UTKAL UNIVERSITY
NAAC ACCREDITED A+

MASTER OF ARTS
IN HINDI

SEMESTER-I

हिंदी साहित्य का इतिहास

CREDIT: 4

Paper - 1.1
BLOCK: 1,2,3 & 4

AUTHOR
Dr. Snehalata Das

C.D.O.E
ଦୂର ଓ ଅନ୍‌ଲାଇନ ଶିକ୍ଷା କେନ୍ଦ୍ର, ଉତ୍କଳ ବିଶ୍ୱବିଦ୍ୟାଳୟ
CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION
UTKAL UNIVERSITY

UTKAL UNIVERSITY
NAAC ACCREDITED A+
CDOE

ABOUT THE UNIVERSITY

Founded in 1943, Utkal University is the 17th University of the country and the first of Orissa. It is the result of the efforts of Pandit Nilakantha Dash, Maharaja Krushna Chandra Gajapati, Pandit Godavarish Mishra and many others who envisioned a progressive education system for modern Odisha.

The University started functioning on 27 November 1943, at Ravenshaw College, Cuttack. It originated as an affiliating and examining body but shifted to its present campus spread over 400 acres of land at Vanivihar in Bhubaneswar, in 1962.

A number of Postgraduate Departments and other centres were established in the University campus. There are presently more than two hundred general affiliated colleges under the University. It has eleven autonomous colleges under its jurisdiction, twenty-eight constituent postgraduate departments, 2 constituent law colleges and a Directorate of Distance & Continuing Education. It boasts of a centre for Population Studies, a School of Women's Studies, an Academic Staff College, a pre-school and a high school. The University also offers a number of self-financing courses.

NAAC accredited in its 3rd cycle with A+ status in 2023. It is a member of the Indian Association of Universities and the Commonwealth Association of Universities.

CENTRE FOR DISTANCE & ONLINE EDUCATION
UTKAL UNIVERSITY: VANI VIHAR
BHUBANESWAR:-751007

From the Director's Desk

The Centre for Distance and Online Education, originally established as the University Evening College way back in 1962 has travelled a long way in the last 52 years. **'EDUCATION FOR ALL'** is our motto. Increasingly the Open and Distance Learning institutions are aspiring to provide education for anyone, anytime and anywhere. CDOE, Utkal University has been constantly striving to rise up to the challenges of Open Distance Learning system. Nearly one lakh students have passed through the portals of this great temple of learning. We may not have numerous great tales of outstanding academic achievements but we have great tales of success in life, of recovering lost opportunities, tremendous satisfaction in life, turning points in career and those who feel that without us they would not be where they are today. There are also flashes when our students figure in best ten in their honours subjects. Our students must be free from despair and negative attitude. They must be enthusiastic, full of energy and confident of their future. To meet the needs of quality enhancement and to address the quality concerns of our stake holders over the years, we are switching over to self instructional material printed courseware. We are sure that students would go beyond the course ware provided by us. We are aware that most of you are working and have also family responsibility. Please remember that only a busy person has time for everything and a lazy person has none. We are sure, that you will be able to chalk out a well planned programme to study the courseware. By choosing to pursue a course in distance mode, you have made a commitment for self improvement and acquiring higher educational qualification. You should rise up to your commitment. Every student must go beyond the standard books and self instructional course material. You should read number of books and use ICT learning resources like the internet, television and radio programmes etc. As only limited number of classes will be held, a student should come to the personal contact programme well prepared. The PCP should be used for clarification of doubt and counseling. This can only happen if you read the course material before PCP. You can always mail your feedback on the course ware to us. It is very important that one should discuss the contents of the course materials with other fellow learners.

We wish you happy reading.

DIRECTOR

Centre for Distance and Online Education, Utkal University, Bhubaneswar.

Program Name: Master of Arts in Hindi — Program Code: 010308

Course Name: Hindi Sahitya Ka Itihassh — Course Code: HIN 1.1

Semester: I | Credit: 4 | Block No. 1 to 4 | Unit No. 1 to 16

EXPERT COMMITTEE: -

Dr. Smarapriya Mishra
Retd. Prof. from Ravenshaw University

Dr. Ravindranath Mishra
Retd. Prof. & former HOD,
Visva Bharati,Santiniketan

Dr. Radhakant Mishra
Retd. Prof. from Utkal University

Dr. Sudhansu Ku. Nayak
Retd. Reader, Berhampur University

COURSE WRITER:

Dr. Snehalata Das
Reader in Hindi
Rama Devi Women's University , Bhubaneswar

COURSE EDITORS:

Dr. Shankarlal Purohit
Retd. Reader in Hindi,
Utkal University

Dr. Ajit Prasad Mohapatra
Retd. Principal, HTTI, Cuttack

Dr. Pragyan Paramita
Faculty in Hindi, CDOE, Utkal University

PUBLISHED BY

Center for Distance and online Education(CDOE), Utkal University
Bhubaneswar-751007

M.A. (Hindi) Semester - I

PAPER - 1

हिंदी साहित्य का इतिहास(प्राचीन एवं मध्यकाल, रीतिकाल सहित)

Block No	Block	Unit No.	Unit
1	हिंदी साहित्य का आदिकाल	1	हिंदी साहित्य का आरंभ और विकास
		2	आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि
		3	आदिकालीन साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ(नाथ, सिद्ध, रासो साहित्य)
		4	आदिकाल के प्रमुख रचनाकार
2	हिंदी साहित्य का मध्यकाल (निर्गुण काव्यधारा)	5	मध्यकाल की पृष्ठभूमि
		6	भक्तिकालीन निर्गुण साहित्यकार
		7	निर्गुण साहित्य की विशेषताएँ
		8	संत साहित्य और सूफी साहित्य
3	हिंदी साहित्य का मध्यकाल (सगुण काव्यधारा)	9	भक्तिकालीन सगुण साहित्यकार
		10	सगुण साहित्य की विशेषताएँ
		11	रामभक्ति काव्यधारा
		12	कृष्णभक्ति काव्यधारा
4	हिंदी साहित्य का रीतिकाल	13	रीतिकाल की पृष्ठभूमि
		14	रीतिकालीन साहित्य की विविध धाराएँ
		15	रीतिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ
		16	रीतिग्रंथों का प्रवर्तक

UNIT–I

इकाई–I (हिन्दी साहित्य का आदिकाल)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 हिंदी का उद्‌भव

1.3 हिंदी साहित्य का आरंभ

1.4 आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि

- 1.4.1 राजनीतिक परिस्थिति
- 1.4.2 सामाजिक परिस्थिति
- 1.4.3 धार्मिक परिस्थिति
- 1.4.4 सांस्कृतिक परिस्थिति

1.5 आदिकालीन साहित्यिक सामग्री का वर्गीकरण

- 1.5.1 सिद्ध साहित्य
- 1.5.2 जैन साहित्य
- 1.5.3 नाथ साहित्य
- 1.5.4 रासो साहित्य
- 1.5.5 लौकिक साहित्य

1.6 आदिकाल के प्रमुख रचनाकार

- 1.6.1 अमीर खुसरो
- 1.6.2 विद्यापति

1.7 सारांश

1.8 अभ्यास प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- हिन्दी भाषा और साहित्य के उद्‌भव के बारे में जान सकेंगे ।
- हिन्दी के विकास की विभिन्न प्रवृत्तियों का परिचय पा सकेंगे ।
- हिन्दी के आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे ।
- हिन्दी की प्रारंभिक राचनाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करेंगे ।
- आदिकाल की साहित्यिक उपलब्धियों की पहचान कर पायेंगे ।

1.1 प्रस्तावना :

किसी भी भाषा या साहित्य का उद्‌भव एक निश्चित तारीख से नहीं होता । वह एक कालखण्ड होता है । एक पुरानी भाषा से दूसरी नई भाषा का उद्‌गम होता है । वास्तव में भाषा का असली रूप जनसाधारण की बोलचाल की भाषा ही है । जब उस बोलचाल की भाषा को साहित्य रचना में लगाया जाता है तो वह साहित्यिक भाषा बन जाती है । भारतीय भाषा परंपरा पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डालें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी । वेदों की भाषा तत्कालीन जनता की भाषा का साहित्यिक रूप है । उसे 'छान्दस' कहा जाता है । उसका विकसित रूप संस्कृत है । इसी प्रकार संस्कृत से पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ । भारतीय भाषाओं के विकास के इन चरणों को निम्न रेखाचित्र से समझ जा सकता है–

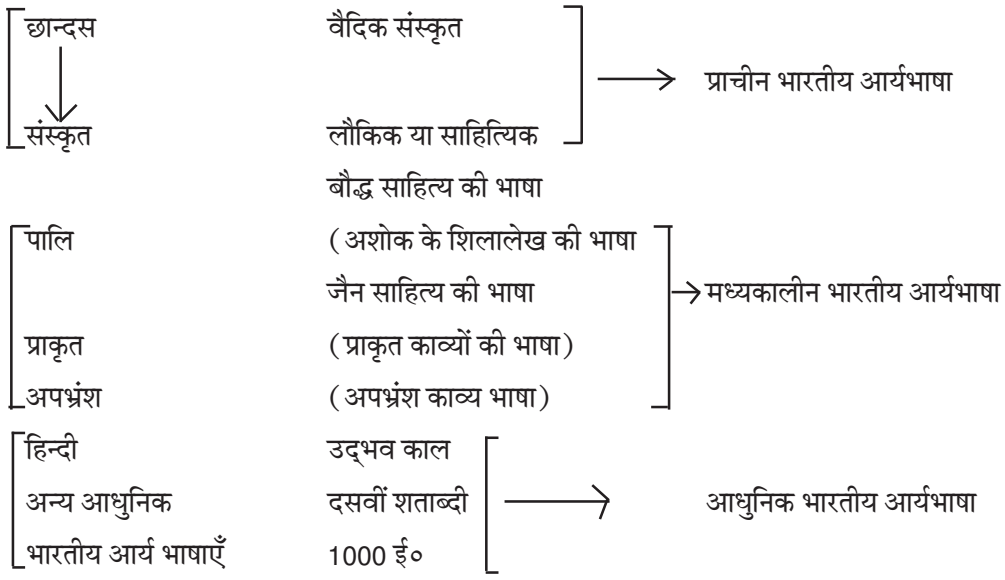

1.2 हिंदी का उद्‌भव

स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा मध्यभारतीय आर्यभाषा की अंतिम कड़ी है । हिन्दी का सीधा संपर्क अपभ्रंश से है । यह आश्चर्य की बात नहीं कि स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे कवियों ने अपनी रचना को 'ग्रामीण भाषा', 'देशभाषा' आदि कहा है । प्रत्येक युग में एक साहित्यिक भाषा होती है और अनेक लोकभाषाएँ होती है । लोकभाषा जब साहित्य में प्रयुक्त होती है तो लोकजीवन से रस प्राप्त करती है । भाषा में परिवर्तन आना ही विकास है । जब संस्कृत साहित्यिक भाषा थी तब प्राकृत लोकभाषा थी। जब प्राकृत साहित्यिक भाषा हो गयी तब अपभ्रंश लोकभाषा थी । आधुनिक भाषाएँ जो जनता की कथित भाषाएँ थी; उनमें साहित्यिक रचना होने लगी । इस प्रकार हिन्दी का प्रारंभ काल अपभ्रंश और क्रमश: हिन्दी का रचनाकाल है । अर्थात् देशभाषा से अलग होकर साहित्य में प्रयुक्त अपभ्रंश परिनिष्ठित हो गई । आचार्य हेमचन्द्र दो प्रकार की प्राकृत भाषाओं की चर्चा करते हैं–प्रथम प्रकार

की प्राकृत जिसका व्याकरण उन्होंने स्वयं लिखा और दूसरी प्राकृत जो आगे चलकर अपभ्रंश कहलाई । बौद्ध सिद्धों के दोहे और 'संदेश रासक' आदि इसी ग्राम्य भाषा के उदाहरण हैं । ग्राम्यभाषा में रासक, डोम्बिका आदि लोकप्रिय गेय पदों में लिखे जाते थे । यही भाषा आगे चलकर हिन्दी भाषा के रूप में विकसित हुई । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हेमचन्द्र के ग्रंथों में आए हिन्दी के रूप के लिए दोहों का उदाहरण दिया है । जैसे–

भल्ला हुआ जो सारिआ बहिणी महारा कन्तु ।

लज्जेजकु बयस्सीमहुँ भग्गा घर एन्तु ।।

उन्होंने ठीक ही कहा है–अपभ्रंश भाषा या प्राकृत भाषा हिन्दी का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी (ईस्वी छठी मध्यभाग) के अंतिम चरण में लगता है । इन सिद्धों की चर्यागीतों में पूर्वी अपभ्रंश और दोहों में पश्चिमी अपभ्रंश के रूप मिलते हैं । इसी से पता चलता है कि अपभ्रंश का रचनाक्षेत्र कितना विस्तृत था । पूर्व के पालराजाओं के राज्य में, राष्ट्रकूट राज्य में ,गुजरात में अर्थात् देश के सभी क्षेत्रों में अपभ्रंश में रचनाएँ होती थीं और क्षत्रीय रूप की झाँकियाँ उनमें स्पष्ट दिखाई देती थीं ।''

इस प्रकार उस समय के जैन साहित्य में भी हिन्दी का रूप उभरकर आने लगता है । जैसे–

मूल छडि जो डाल चडि, कहँ तह जोया आयसि ।

चीसगु बुणणहँ जाइ बढ़ बिणु उहिई कपासि ।।

जड़ को छोड़ जो डालपर बैठा है, उसके लिए योगाभ्यास कहाँ,' क्या रूई को ओटे बिना कपड़ा बुना जा सकता है ।

एक बात और लक्ष्य करने की है कि इस आरंभिक हिन्दी भाषा के अनेक रूप मिलते हैं । क्षेत्र अनुभूति आदि इस भाषा भेद के कारण हैं । नाथ लोगों की रचनाओं में विभिन्न क्षेत्रीय भाषा के रंग झलकते हैं । सिद्धों की भाषा की विविध–रूपता का जिक्र किया जा चुका है । राजस्थान की हिन्दी 'डिंगल' नाम से प्रसिद्ध है । श्रीधरकृत 'रणमलछंद' और कल्लोल कृत 'ढोला मारूरा दूहा' इसके उदाहरण है । ब्रजभाषा के क्षेत्र में 'पिंगल' भाषा में रचनाएँ होती थी । 'हिन्दवी' में तेरहवीं शती में अमीर खुसरो ने रचना की है । वास्तव में इस भाषा का वह रूप है जो उस युग की सामान्य जनता प्रयोग में लाती थी ।

अनेक विद्वानों ने हिन्दी भाषा के आरंभ के साथ ही हिन्दी साहित्य का आरंभ स्वीकार किया है । आरंभिक हिन्दी और उसमें रचित साहित्य के संबंध में डॉ० नगेन्द्र ने अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा है–

''इस भाषा (आरंभिक हिन्दी) का विकास एक जनभाषा के रूप में हुआ है । कोई भी जनभाषा अपने प्रवाह की अक्षुण्णता में सदा एक रूप नहीं रह सकती । स्थान और काल भेद से उसमें रूप भेद भी उत्पन्न हो जाता है । किंतु जब तक उन रूपों की तात्विक समानता सुरक्षित रहती हैं, तब तक वे एक ही भाषा का बोध कराते हैं ।''

हिन्दी का क्षेत्र विशाल है । इसलिए अन्य आधुनिक आर्यभोषायें की तुलना में उसमें अधिक विविधता है । यह आश्चर्य की बात नहीं है ।

- **हिन्दी रचना : कैसे पहचाने :**

अपभ्रंश साहित्य और आदिकालीन हिन्दी साहित्य के बीच क्या अंतर है ? किन लक्षणों के आधार पर दोनों की पहचान हो सकती है ? इस विभाजन को स्पष्ट समझने के लिए भाषा के और उसके व्याकरण के कुछ बैशिष्ट्य हैं । भाषा के 'स्तरपर' पहचान की ये कसौटियाँ हैं–

1. शब्दों में क्षतिपूरक दीर्घीकरण : जैसे–

संस्कृत	**प्राकृत–अपभ्रंश**	**हिन्दी**
कर्म	कम्म	काम

कार्य	कज्ज	काज
हस्त	हत्थ	हाथ

2. परसर्गों की बहुलता : जैसे–

अधिकरण परसर्ग–

मन्झहि, मज्झे, मंझ, महि, मह आदि

3. तत्सम शब्दों का प्रचलन :

अपभ्रंश में तद्‌भव रूपों का प्रयोग होता था । लेकिन दसवीं शताब्दी में आर्यभाषाओं में तदनुसार हिन्दी में, तत्सम शब्दों प्रयोग बढ़ने लगे ।

इन आधारों पर हम पुरानी हिन्दी को अपभ्रंश से अलग कर सकते हैं–

हम ध्यान दें तो दो तरह की रचनाएँ आदिकाल में मिलती है ।

(क) अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी रचनाएँ–

(i) सिद्ध साहित्य

(ii) नाथ साहित्य

(iii) जैन साहित्य के कुछ ग्रंथ, जैसे–

भरतेश्वर बाहुबलि रास आदि

(iv) लौकिक साहित्य, जैसे–

राउलबेल, वर्णरत्नाकर

(v) रासो साहित्य, जैसे–

हम्मीर रासो

(ख) अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त रचनाएँ :

(i) खुमाण रासो, परमाल रासो, चंदनवाला रास, स्थूलिभद्र रास, रेवन्तगिरि रास, नेमिनाथ रास आदि

(ii) वसंत विलास

(iii) खुसरों की पहेलियाँ आदि ।

कुछ विद्वानों ने यह विवाद उठाया है कि जो रचनाएँ धार्मिक हैं, उन्हें साहित्य के दायरे में नहीं लाना चाहिए । आचार्य शुक्ल ने ही जैन ग्रंथों के संबंध में नीरसता, उपदेशात्मकता के आधार पर उन्हें साहित्येतिहास से निकालने का आग्रह किया है । लेकिन जैन ग्रंथों में जीवन की सच्ची अनुभूतियाँ विद्यमान हैं । अतएव, वे साहित्य के दायरे में आते हैं । सिद्धों के साहित्य में क्लिष्टता, वीभत्सता का वर्णन है । परंतु उनमें भी अनेक साहित्यक प्रवृत्तियाँ हैं । उन्हें छोड़ देने से हानि होगी । दूसरा मुद्दा है, प्रामाणिकता का । कुछ ग्रंथ मूल रूप में मिलते हैं, कुछ में बहुत प्रक्षेप हुआ है । 'पृथ्वीराज रासो' जैसे ग्रंथ की प्रमाणिकता को लेकर गंभीर प्रश्न उठाए गए हैं । परंतु ध्यान देने से पता लचता है कि उसके कुछ अंश मूल ग्रंथ के कुछ निकट हैं और प्रामाणिक लगते हैं । अतएव, ऐसी रचनाओं का संपूर्ण परित्याग न करके उन्हें अध्यात्म के दायरे में रखना होगा ।

1.3 हिंदी साहित्य का आरंभ :

हिन्दी साहित्य का आरंभ हिन्दी भाषा के साथ जुड़ा हुआ है । इसका विकास जनभाषा के रूप में हुआ है । कोई भी जनभाषा अपने प्रवाह की अक्षुण्णता में हमेशा एक रूप नहीं रह सकती । स्थान और काल के भेद से उसमें रूप भेद भी स्वत: उत्पन्न हो जाता है किंतु जबतक उन रूपों की तात्विक समानता सुरक्षित रहती है तबतक वे एक ही भाषा का बोध कराते हैं । हिन्दी भाषा ने भी स्थान और काल के भेद से अपनी दीर्घ यात्रा में अनेक रूप धारण किये हैं । मगही, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, कनौजी, बघेली, बुन्देलखण्डी, ब्रज, खड़ीबोली, बांगरू, मेवाती, हाड़ौती, मारवाड़ी, मेवारी, ढूँढारी, मालवी, भीली, खानदेशी, पहाड़ी आदि अनेक रूप भेद पाये जाते हैं; किंतु इन सबमें तात्विक विवेचना विद्यमान है । आज इन भाषा रूपों को स्थान-भेद से स्मरण किया जाता है । किंतु काल-भेद से भी इन रूपों में अंतर है । कुछ शताब्दियों पूर्व ब्रज या मैथिली भाषा का रूप आज यथावत् नहीं मिलता । किंतु तात्विक समानता के आधार पर पूर्वकाल के वे रूप भी ब्रज या मैथिली ही माने जाते हैं और उन सब रूपों में रचित साहित्य भी हिन्दी का ही साहित्य कहा जाता है ।

अत: भाषा के रूप-भेद को भूलाकर तात्विक परिवर्तन के आधार पर ही एक भाषा के अंत और दूसरी भाषा के आरंभ का इतिहास स्वीकार करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है । इसी दृष्टि से अपभ्रंश को एक अलग भाषा मानकर उसके तात्विक आधार पर भिन्न रूप में विकसित भाषा को पृथक नाम देने की आवश्यकता है । यद्यपि अपभ्रंश अपने मूल रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक साहित्य की भाषा बनी रही तथापि आठवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा के रूप में पृथक् होकर साहित्य रचना का माध्यम बन गई थी । कुछ विद्वानों ने इसी भाषा को 'उत्तर अपभ्रंश' अवहट्ठ या पुरानी हिन्दी कहा है । परंतु वास्तविकता यह है कि यह भाषा 'हिन्दी' है । उसे 'उत्तर अपभ्रंश' या 'अवहट्ठ' नाम देना भ्रम उत्पन्न करना है । जिन विद्वानों ने ये नाम दिये हैं, वे भी अपने मत के अंतर्गत प्राय: उक्त तथ्य का समर्थन करते रहे हैं । पहले विद्वान चन्द्रधर शर्मा गुलेरी हैं जिन्होंने इस उत्तर अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहा है । यहाँ उत्तर शब्द काल का बोधक न होकर साहित्यिक अपभ्रंश से इतर बोलचाल की उस भाषा का बोधक है, जो साहित्यिक अपभ्रंश के एक रूप की स्वीकृति के पश्चात् उसके बाद के रूप में स्थापित होती जा रही थी ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने गुलेरी जी के लेख के आधार पर अपने इतिहास में आदिकाल के अंतर्गत उत्तर 'अपभ्रंश' की रचनाओं को यह मानते हुए भी स्थान दिया कि उनके आधार पर उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती । राहुल सांकृत्यायन ने भी 'उत्तर अपभ्रंश' की रचनाओं को हिन्दी की रचनाएँ माना है । हिन्दी के प्राचीन कवि और उनकी कविताएँ लेख में उन्होंने हिन्दी कविता का आदिरूप नालन्दा और विक्रमशीला के सिद्धों द्वारा बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्व के प्रचार की भाषा में सिद्ध किया है । इसी प्रकार डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में गुलेरी जी और राहुल जी के मतों को स्वीकार करते हुए उत्तर अपभ्रंश के कवियों को स्थान दिया है ।

शुक्ल जी के साथ कुछ-कुछ सहमत होते हुए भी डॉ० श्यामसुंदर दास तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपभ्रंश काव्य का विवेचन आदिकाल के भीतर करते रहे हैं । द्विवेदी जी ने अपभ्रंश और हिन्दी के संबंध में इस प्रकार मत व्यक्त किया है:-''इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल के बढ़ाव को कुछलोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी । ....बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नाए तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था ।''

इस प्रकार द्विवेदी जी अपभ्रंश से हिन्दी को अलग रखना चाहते थे । फिर भी उन्होंने अपभ्रंश के उत्तरकालीन साहित्य को आदिकाल की सामग्री मानकर उसका विवेचन किया है । उनके वक्तव्य से यह सिद्ध हो जाता है कि 'उत्तर अपभ्रंश' हिन्दी का ही आरंभिक रूप है । उनके अनुसार अपभ्रंश में शब्दों के तद्भव रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति थी, किंतु जब उसमें तत्सम रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति विकसित होने लगी तब तक नयी भाषा का रूप उभरा जिसे हिन्दी कहना चाहिए । वस्तुत: जनभाषा होते हुए भी हिन्दी की यही एक ऐसी प्रवृत्ति है जो अपभ्रंश के बाद भी अबतक निरंतर बढ़ती रही है । अत: जिन विद्वानों ने अपभ्रंश के अतिरिक्त 'अवहट्ट' का झगड़ा खड़ा किया है । वे हिन्दी के आरंभिक विकास को उसके आगे की धारा से काट देना चाहते हैं ।

यह ठीक है कि वे उत्तर अपभ्रंश को शुद्ध अपभ्रंश नहीं मानते, किंतु उसे आरंभिक हिन्दी न मानना एक भ्रम है । अधिकांश विद्वान् 'अवहट्ठ' को पृथक् भाषा मानने के पक्ष में नहीं है । डॉ० भोलाशंकर व्यास ने हिन्दी के आरंभिक रूप को ही 'अवहट्ट' कहा है और यही अधिक समीचीन जान पड़ता है क्योंकि जिसे कुछ विद्वान् अवहट्ट कहना चाहते हैं, वही अपभ्रंश का ऐसा रूप है जिसमें हिन्दी की सभी आरंभिक प्रवृत्तियाँ एक साथ मिलती हैं तथा साहित्यिक अपभ्रंश से जिसका गहरा विद्रोह झलकता है ।

अत: हिन्दी–साहित्य के आदिकाल की सामग्री में उत्तर अपभ्रंश की सभी रचनाएँ आ जाती हैं । उन्हें हिन्दी साहित्य से निकाल कर अपभ्रंश के साहित्य में स्थान देना या 'अवहट्ट' का नया इतिहास खड़ा करना उचित नहीं है । इसी दृष्टि से सिद्धों की रचनाओं से ही हिन्दी–साहित्य का आरंभ मानना युक्तिसंगत है । उनके साहित्य की भाषा अपभ्रंश के 'उत्तर–भाषा' रूप की सूचना देता है तथा साहित्यिक अपभ्रंश से खुलकर विद्रोह कर रही है ।

साहित्य के आरंभ का निर्णय भाषा के आधार पर तो किया ही जा सकता है, इसके अतिरिक्त एक दूसरा तत्व भी है, जिसे हम साहित्य की चेतना कह सकते हैं । सिद्धों की रचनाओं में यह तत्व नए रूप में विकसित होता हुआ दिखाई देता है तथा अपभ्रंश के साहित्य से उसका खुला विद्रोह भी झलकता है । सिद्धों की वस्तुदृष्टि जिस धार्मिक चेतना पर आधारित है, उसका सीधा संबंध 'नाथ साहित्य' से होता हुआ हिन्दी की भक्तिकालीन कवियों से जुड़ता है । अगर सिद्ध–नाथ साहित्य को हिन्दी साहित्य से हटाकर अपभ्रंश साहित्य में रख दिया जाय, तो हिन्दी का समस्त भक्ति साहित्य 'जड़' और 'तने' से कटे वृक्ष की तरह निराधार हो जायेगा ।

अत: भाषा के विकास की आरंभिक स्थिति तथा उत्तरवर्ती धार्मिक चेतना के मूल रूप को ध्यान में रखकर सिद्ध साहित्य से हिन्दी साहित्य का आरंभ मानना पूर्णत: युक्ति संगत है । साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसके समानांतर लिखे गए साहित्यिक अपभ्रंश के ग्रंथों से उसे सावधानी पूर्वक पृथक् रखा जाए, क्योंकि कई विद्वानों ने दोनों को एक मानने की भी भूल की है । स्मरण रखना चाहिए कि कई सिद्धों ने एक साथ 'अपभ्रंश' और 'आरंभिक हिन्दी' में रचनाएँ प्रस्तुत की हैं । अत: ऐसे कवियों की रचनाएँ दो वर्गों में विभाजित हो जाती हैं और उसी आधार पर उनकी गणना यदि एक ओर अपभ्रंश साहित्य के इतिहास में की गई है, तो दूसरी ओर आरंभिक हिन्दी में भी साहित्य लिखने के कारण उनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में आ जाता है । दो या अधिक भाषाओं में रचना करने की प्रवृत्ति बहुत समय तक चलती रही । विद्यापति का साहित्य इसका प्रमाण है । अत: एक ही कवि को अपभ्रंश के कवि मान लेने के पश्चात् उसकी कुछ रचनाओं में प्रारंभिक हिन्दी का प्रयोग देखकर उसे हिन्दी का आरंभिक कवि मानने से इनकार नहीं किया जा सकता ।

- **प्रथम कवि :**

हिन्दी का प्रथम कवि कौन है ? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद हैं । डॉ० शिवसिंह सेंगर ने सातवीं शताब्दी में उत्पन्न 'पुष्य' या 'पुण्ड' नामक किसी कवि को हिन्दी का प्रथम कवि माना था । किंतु इस कवि का उल्लेख मात्र मिलता है, उसकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है । राहुलजी ने सातवीं शताब्दी के 'सरहपाद' को हिन्दी का प्रथम कवि माना है । वे 84 सिद्धों में से एक थे । उनकी कविता में अपभ्रंश का साहित्यक रूप छूट गया है, तथा बोलचाल की भाषा, जो आरंभिक हिन्दी है, प्रयुक्त हुई है । वर्ण्य विषय और चेतना की दृष्टि से भी उनका काव्य हिन्दी–साहित्य के भक्तिकाल का बीजांकुर है । 84 सिद्धों की काव्य चेतना के अनेक तत्व नाथ संप्रदाय की काव्यचेतना के आधार भूमि तैयार की । सिद्ध साहित्य से नाथ साहित्य का विकास हुआ और नाथ साहित्य की प्रेरणा से भक्तिकालीन संत–साहित्य का प्रारंभ हुआ, जिसके प्रथम कवि कबीर माने जाते हैं । सरहपाद की काव्य परंपरा में विकसित नाथपंथ का हठयोग कबीर के काव्य में इतना अधिक पल्लवित हुआ कि सरहपाद के काव्य की आदि स्थिति को नकारा नहीं जा सकता । साहित्यिक अपभ्रंश में जो साहित्य विकसित हुआ उस पर सरहपाद का उतना प्रभाव नहीं है जितना नाथ–साहित्य और संत–साहित्य पर है । एक तीसरा आधार और है, जिस पर सरहपाद को प्रथम हिन्दी कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है, वह है, शैली की परंपरा का । सरहपाद ने दोहा और पदों

की शैली अपनी कविता में प्रयुक्त की है । यह शैली उनके बाद के सभी, हिन्दी–कवियों ने परंपरा के रूप में अपनायी है । हिन्दी–मुक्तक काव्य में दोहा सबसे अधिक प्रिय छन्द रहा है । अत: सभी दृष्टियों से सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि माना जा सकता है ।

जो विद्वान सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि नहीं मानना चाहते, उनके पास अपने मत के समर्थन के लिए सिर्फ दो तर्क है : पहला –सरहपाद की रचनाएँ अपभ्रंश साहित्य के अंग हैं और दूसरा सरहपाद के समय से ग्यारहवीं शताब्दी तक हिन्दी रचना–परंपरा नहीं मिलती । ये दोनों तर्क निराधार हैं । यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखनेवाले विद्वानों में कोई भी ऐसा नहीं है जिसने कबीर दास से हिन्दी साहित्य का आरंभ स्वीकार किया है । यों डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त आदि एक दो विद्वानों ने अपभ्रंश और हिन्दी के मध्य निर्णायक रेखा खींचना कठिन मानकर यह इच्छा प्रकट की है कि भक्तिकाल से ही हिन्दी साहित्य का आरंभ माना जाय, किन्तु वे भी इस इच्छा को अनौचित समझते रहे हैं और इसी कारण उन रचनाओं का आदिकाल के अंतर्गत विवेचन करने को बाध्य हुए हैं, जिन्हें वे अपभ्रंश की रचनाएँ कहते हैं । डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्द ने इस संदर्भ में अपने हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास में 'भरतेश्वर बाहुबली रास' के रचयिता शालिभद्र सूरि को हिन्दी का प्रथम कवि माना है, जो तर्क सम्मत नहीं है । इस प्रश्न का यह उत्तर हो सकता है कि सरहपाद की भाषा हिन्दी का प्रारंभिक रूप है या शालिभद्र सूरी की भाषा ? दोनों के उदाहरणों को देखने पर स्वत: ही इसका उत्तर मिल जाता है और स्पष्ट हो जाता है कि सरहपाद की भाषा अपेक्षाकृत हिन्दी के अधिक निकट है–

सरहपाद : (क) घोर अँधारे चन्दमणि जिमि उज्जोअ करेइ ।
परम महासुह ऐखु कण, दुरिअ अशेष हरेई ।।

(ख) पण्डिअ सअल सत्था बक्खाणइ, देहहि बुद्ध बसन्त नजागाइ ।
अमणागमण ण तेन विक्खण्डिअ, तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पण्डिअ ।।

शालिभद्र सूरि : (क) तंजि पहिय पिक्खेविणु पिअ उक्का खिरिय ।
मन्थर गय सरलाइवि उत्तावलि चलिय ।
तुह मणहर चल्लंतिय चंचल रमण भरि ।
छुड़वि खिसिय रसंणाबलि किंकिण रव पसरि ।।

(ख) उपनूँए केवल नाण तउ विरहइ रिसहे सिउ ए ।
आबिउ ए भरह नरिन्द सिउँ अवधापुरि ए ।।

रही परंपरा की बात तो उसके लिए ग्रंथों का उतना महत्व नहीं; जितना, भावना और विचारणा का है क्योंकि इन्हीं से साहित्य का अस्तित्व माना जाता है; न की मात्र ग्रंथ संख्या से । इस दृष्टि से सरहपाद की देन अधिक महत्वपूर्ण है–उनकी भावधारा सिद्धों और नाथों से होती हुई कबीर तक अपनी परंपरा बनाती है । जबकि शालिभद्र सूरि की देन इस संदर्भ में नगण्य है । अत: सरहपाद को ही हिन्दी का प्रथम कवि मानना तर्कसंगत है ।

- **प्रथम रचना :**

हिन्दी के प्रथम कवि सरहपाद की जो रचनाएँ मिलती हैं वे सभी मुक्तक हैं, अत: प्रथम रचना के नामपर किसी एक पुस्तक को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने हिन्दी–काव्यधारा में सरहपाद की कुछ रचनाओं को संग्रह किया है; उसी के आधार पर उनकी हिन्दी–रचना का एक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है :

जह मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेश ।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश ।।
पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ ।

देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ ।।

यद्यपि इस उद्धरण में अपभ्रंश भाषा के व्याकरण की प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं, तथापि हिन्दी के रूप की झलक ही अधिक स्पष्ट है । साथ ही डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तत्समता को हिन्दी की मूल प्रवृत्ति माना है, वह 'पवन', 'रवि', 'शशि', 'वत', 'चित्त' आदि शब्दों में स्पष्टत: देखी जा सकती है । अन्य सिद्ध कवियों ने भी सरहपाद की भाषा–प्रवृत्ति का अनुकरण किया है । राहुल ने सरहपाद का समय 769 ई० माना है । परंतु डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने 633 ई० बताया है । डॉ० रामकुमार वर्मा इसी आधार पर लिखते हैं : ''सातवीं शताब्दी से ही हम सिद्धों की रचनाओं को अपनी भाषा के प्रारंभिक रूप में पाते हैं । इन रचनाओं के वर्ण् विषय हठयोग, मंत्र, मद्य और स्त्री हैं, जो वज्रयान के मुख्य रूप हैं । भाषा अपभ्रंश –मिश्रित है; जिसमें सिद्धांतों के मिश्रण के कारण काव्योत्कर्ष हो नहीं सकता ।'' वस्तुत: डॉ० वर्मा ने काव्योत्कर्ष का जो अभाव देखा है, वह सिद्धांतो के मिश्रण के कारण तो है ही, इन सिद्धांतो के प्रतिपादनार्थ अपभ्रंश भाषा का मिश्रण भी इसके लिए उत्तरदायी रहा है । अत: आरंभिक रचना की दृष्टि से काव्योत्कर्ष का उतना महत्व नहीं है, जितनी महत्वपूर्ण काव्य–भाषा के रूप में किसी रचना में हिन्दी का प्रयोग; और यह प्रयोग सरहपाद की रचनाओं में ही प्रथम बार मिलता है ।

यदि एक ग्रंथ के रूप में हिन्दी की प्रथम रचना का निर्धारण करना हो तो सरहपाद आदि सिद्धों की मुक्तक कविताओं के पश्चात् जैन–आचार्य देवसेन–कृत श्रावकाचार ग्रंथ का नाम लिया जा सकता है । इसमें सरहपाद की दोहा–शैली का विकसित रूप मिलता है । देवसेन ने इस ग्रंथ में 250 दोहों में श्रावक धर्म का वर्णन किया है । गृहस्थ–धर्म उस वर्णन का केन्द्र है । अत: इसमें साहित्यिक तत्वों का अभाव नहीं है । इस दृष्टि से इसी ग्रंथ की हिन्दी की प्रथम साहित्यिक रचना माना जा सकता है ।

1.4 आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि

साहित्यिक रचनाओं के पीछे ऐतिहासिक शक्तियों और सामाजिक संस्थाओं का योगदान होता है । सामाजिक संगठन काव्यानुभूति की जटिलता के बीच सक्रिय होता है । काव्यानुभूति के प्रेरक तत्व के रूप में मनुष्य के परिवेश का बहुत महत्व है । किसी भी काल के साहित्येतिहास को समझने के लिए उसकी परिस्थिति को ठीक प्रकार से समझना अत्यंत आवश्यक होता है । इसी दृष्टि से आदिकालीन साहित्य के इतिहास के साथ तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों को जानना आवश्यक है ।

1.4.1 राजनीतिक परिस्थिति

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी का आदिकाल भारतीय राजनीतिक जीवन के विशृंखला होने का काल है । सातवीं –आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के राजनीतिक घटनाचक्र ने हिन्दी साहित्य को भाषा और भाव की दृष्टि से प्रभावित किया । विशृंखला तथा राजनीतिक असंतुलन के इस युग का प्रारंभ राजवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उसके अनुज तथा सशक्त हिन्दू सम्राट हर्षवर्धन के सिंहासनारूढ़ होने से होता है । हर्षवर्धन ने सन् 606 ई० में सिंहासन संभाला और अपनी योग्यता तथा प्रतिभा से अपने विरोधियों को वश में कर लिया । हर्षवर्धन के शासन काल में ही चीनी यात्री हुएनसांग भारत आया था और उसने उस समय के भारत के धर्म और समाज के व्यवस्थित होने का उल्लेख किया था । 647 ई० में हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तरभारत का साम्राज्य एक शासनाधीन होकर न रह सका और छोटे–छोटे टुकड़ों में बँट गया । इस समय का राजनीतिक परिदृश्य बहुत ही उलझा हुआ था । कुछ राज्य थोड़े समय के लिए काफी शक्तिशाली बने नगर उनमें से कोई भी अपनी प्रभुसत्ता कायम नहीं कर पाया । सारा राज्य लगातार एक–दूसरे के साथ चढ़ाइयों में लगा रहा । परंतु उनमें से अजमेर के चौहान, कनौज के गाहड़वाल और मालवा के परमार अपनी सत्ता थोड़े समय के लिए प्रतिष्ठित करने में कामयाब हो गए थे । आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक के भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थिति हिन्दू–सत्ता के क्षय तथा इस्लाम –सत्ता के धीरे–धीरे उदय होने की करुण कहानी है । इसी कारण ऐसी मानस्थिति का जन्महुआ जिसमें कोई एक प्रवृत्ति साहित्य में प्रधान न हो सकी ।

यवन शक्तियों के आक्रमण का प्रभाव पश्चिम और मध्यप्रदेश पर पड़ा । इन्हीं क्षेत्रों की जनता युद्ध तथा अत्यचारों से आक्रांत होती रही । यही वह क्षेत्र था जहाँ हिन्दी भाषा का विकास हो रहा था । अत: इस काल का समस्त हिन्दी–साहित्य

आक्रमण और युद्ध के प्रभावों की मनस्थितियों का प्रतिफलन है ।

आदिकाल के इस युद्ध प्रभावित जीवन में कही भी संतुलन नहीं था । जनता पर विदेशी आक्रांताओं के अत्याचारों के साथ-साथ देशी राजाओं के अत्यचारों का क्रम भी जारी रहा । वे आपस में लड़ने लगे और प्रजा पीड़ित होने लगी । पृथ्वीराज चौहान, जयचंद, परमार्दिदेव आदि की पारस्परिक लड़ाइयाँ अंतहीन कथाएँ बनती गयीं । फलत: जनता में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो साहस और वीरता के साथ लड़ते हुए जीना चाहता था, तो दूसरा ऐसा वर्ग भी पनपा जो विनाशलीला देख-देख कर संसारेतर बातें सोचने को बाध्य था । अराजकता, गृह कलह, विद्रोह आक्रमण और युद्ध के वातावरण में यदि एक कवि आध्यात्मिक जीवन की बातें करता था, तो दूसरा मरते-मरते भी जीवन का रस भोग लेना चाहता था । एक तीसरा ऐसा भी कवि था जो तलवार के गीत गाकर गौरव के साथ जीना चाहता था । यही इस काल की राजनीतिक परिस्थितियों की एक विचित्र देन है, जिसके फलस्वरूप यदि स्त्री -भोग, हठयोग से लेकर आध्यात्मिक पलायन और उपदेशों तक का साहित्य एक ओर लिखा गया, तो दूसरी ओर ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने, लड़ते-लड़ते जीने और संसार को सरस बनाने की भावना भी साहित्य रचना के मूल में रही ।

सम्राट हर्षवर्धन का दरवार संस्कृत के कवियों और पण्डितों से भरा रहता था । उस समय अपभ्रंश और जनभाषा के कवियों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला । किंतु राजपूतों की राजधानियाँ स्थापित होने के पश्चात् लोक-भाषा का आदर बढ़ने लगा । मध्यप्रदेश में स्थिति फिर भी विपरीत बनी रही । वहाँ के प्रतिहार और ग्राहड़वार राजा वैदिक भावना के समर्थक बने रहे । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, ''वे बाहर से बुला-बुलाकर अनेक ब्राह्मण वंशों को दान देकर काशी में बसा रहे थे (संस्कृत को उन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया) ।'' इस प्रकार उचित प्रोत्साहन के अभाव में लोकभाषा के कवियों को काव्य-रचना के लिए अनुकूल वातावरण नहीं मिला । जो कवि धार्मिक भावना से अनुप्राणित थे, वे ही किसी की परवाह किए बिना काव्य-साधना करते रहे, किंतु जो कवि राजाश्रित थे, उन्हें अपने राजा को प्रसन्न करने के लिए काव्य-रचना करनी पड़ी । धर्म और राजाश्रय से मुक्त रहकर कविता करनेवाले कवियों की प्रतिभा के विकास के लिए उचित वातावरण नहीं था ।

गुप्तयुग और हर्षवर्धन युग की केन्द्रीय सत्ता के ह्रास के बाद संस्कृत भाषा की केन्द्रीयता भी समाप्त हो गयी । जनभाषा में साहित्य रचना होने लगी । प्राकृत और अपभ्रंश जैसी जनभाषा को महत्व मिला । जिसके बाद देशभाषा के विकास में व्यापक योगदान रहा । तात्पर्य यह है कि केन्द्रीय सत्ता के टूटने का प्रभाव सिर्फ राजनीति तक सीमित नहीं था, बल्कि उसका प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र के साथ साहित्य में भी पड़ा । राजनीति में क्षेत्रीय अस्मिता का प्रभाव बढ़ रहा था, साथ ही साथ भाषा के स्तर पर हिन्दी, बंगला, ओड़िआ, असमिया आदि भाषा के निर्माण की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी ।

छोटे-छोटे राज्यों में लगातार संघर्ष होने के कारण साहित्य भी प्रभावित हुआ । पर धीरे-धीरे साहित्य रचना की पद्धति बदल गई । राजदरबारों में संस्कृत साहित्य का प्रभाव घटने लगा । साहित्य रचना के लिए अनुभव की जीवंतता अनिवार्य हो गई थी । चरण युद्ध क्षेत्र में अनुभव प्राप्त करते थे इसलिए उनकी रचनाओं में अनुकूल की वास्तविकता होती थी । भले ही उनकी रचनाएँ अतिरंजना पूर्ण होती थीं । इस तरह राजनीति का प्रभाव केवल राजनीति पर न रहकर साहित्य पर भी पड़ता था । आदिकाल का रासो साहित्य इसका श्रेष्ठ उदाहरण है ।

1.4.2 सामाजिक परिस्थिति

देश की सामाजिक स्थिति पर राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव रहा है । जनता विदेशियों के आने से एक प्रकार से परिवर्तन का सामना करती है । समाज में हलचल मचा जाता है । विदेशियों का हिन्दू साहित्य में घुलमिल जाने से नई जातियों का उदय हुआ । राजपुत जातियों का उदय कुछ इस प्रकार से हुआ है । राजपुतों के पास सत्ता होने के कारण उनका दबादबा समाज में बढ़ा । इससे ब्राह्मण वाद को खतरा महसूस होने लगा । इसलिए उन्होंने वर्णवाद की कट्टरता को थोड़ा सहज बना दिया । इधर राजपुत को क्षत्रिय की संज्ञा मिली । ब्राह्मणों ने राजपुतों को नैतिक औचित्य प्रदान किया । इसका सीधा असर समाज पर पड़ा । दूसरे वर्ग के लोग ब्राह्मणवाद को चुनौती देने की मुद्रा में खड़े होने लगे । इसका उदाहरण सिद्ध, नाथ

और जैन साहित्य में मिलता है ।

जनता धर्म और शासन से निराश हो चुकी थी । युद्ध के समय उसकी हालत अधिक खराब रहती, उसे बुरी तरह पीसा जाता था । वह ईश्वर की ओर देखती तो उसे भ्रम और असहायता की स्थिति मिलती । जाति –पाँति का भेदभाव बहुत बढ़ गया था । ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र–इन चारों वर्णों की प्रधानता थी । अनेक जाति एवं उपजातियों में बँटकर भारत सामाजिक आदर्श खो चुका था । जाति–पाँति का बन्धन और अधिक कसता जा रहा था । भोग का अधिकार उच्चवर्ग को था और निम्नवर्ग श्रम के लिए पैदा हुआ था । जनता के लिए शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी । सांप्रदायिक तनाव के कारण नारी और पुरुष के लिए साहित्य और शास्त्र ज्ञान अप्राप्य बना दिया गया था । अंधविश्वासों के दायरे में जनता फँसी हुई थी । साधु संन्यासियों के श्राप और वरदान पर लोगों की दृष्टि थी । जीवन–यापन के सामान्य साधन उपलब्ध नहीं होते थे और निर्धनता सदा जनता को घेरे रहती । नाना प्रकार के पूजा –पाठ, तंत्र–मंत्र तथा जप–तप करके भी लोग महामारी तथा युद्ध जैसे संकट को टाल नहीं पाते थे । नारी की स्थिति भोग्या के रूप में थी । वह मनुष्य नहीं वस्तु बनी हुई थी । नारी का सामाजिक कर्तव्य पुरुष के भोग का साधन बनने तक सीमित था । नारी को मानवीय गरिमा के अनुकूल अधिकार प्राप्त नहीं था । इसके प्रभाव से साहित्य भी अछूत नहीं रहा । जैसे धन प्राप्ति के लिए युद्ध होते थे वैसे ही सुंदर नारी युद्ध का कारण बनी । सांमतों में नारी के प्रति जो दृष्टिकोण था, उसका प्रभाव धर्म पर भी पड़ा । मंदिरों में देवदासियों की प्रथा शुरू हो गयी । यहाँ तक कि बौद्ध धर्म में तांत्रिक संप्रदाय का आरंभ हुआ और वज्रयानियों ने स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ वीभत्स विधान शुरू किया । इस तरह सामाजिक विषमता में जीनेवाली जनता निरंतर ऐसे विचारों की प्यासी रहती थी जो उसे दिलासा दे सके, मानसिक शांति प्रदान करें । हिन्दी के कवियों ने जनता की इस स्थिति के अनुसार काव्य रचना की ।

1.4.3 धार्मिक परिस्थिति

ईसा की छठी शताब्दी तक देश का वातावरण शांत रहा । विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में परस्पर मेलजोल बढ़ने लगा । वैदिक यज्ञ, मूर्तिपूजा तथा जैन एवं बौद्ध उपासना –पद्धतियाँ एक साथ चल रही थीं । किंतु सातवीं शताब्दी के साथ देश की धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन आरंभ हुआ । इस समय आलबार और नायम्बार संत दक्षिण भारत से उत्तर भारत की ओर एक धार्मिक आंदोलन ले आये । 1642 ई० में जब ह्वेन्साँग ने दक्षिण भारत की यात्रा की तो वहाँ बौद्धधर्म पतन के चित्र देखकर वह बहुत दु:खी हुआ था । उत्तर भारत में भी इस समय यह प्रभाव आ रहा था । वैष्णवमत इस समय अधिक प्रतिष्ठित नहीं था; अत: जनता में या तो जैन मत सम्मान पा रहा था या शैव मत । फल यह हुआ कि शैव और जैन मत आगे बढ़ने की होढ़ में परस्पर टकराने लगे । बारहवीं शताब्दी तक वैष्णव आंदोलन तीव्र होने लगा था और शैव आंदोलन भी नया रूप ले लिया था । फलस्वरूप जैन मत के प्रचारकों की शक्ति घटने लगी । राजपूत राजा अहिंसामूलक मतों में विश्वास नहीं करते थे । उन पर शैव मत का प्रभाव अधिक था । मध्यदेश के गाहड़वार राजा स्मार्त थे तथा मालवा के राजा वैदिक धर्म के समर्थक । गंगा और नर्मदा के बीच में कलचुरि वंश शैव मत के प्रचार में लगा हुआ था । इसी वंश के प्रतापी राजा कर्ण के प्रभाव से काशी शैव साधना का केन्द्र बनी हुई थी । धीरे–धीरे स्मार्त मतानुयायी जनता भी शैव होती जा रही थी । वस्तुत: समस्त उत्तर भारत में धीरे–धीरे शैवमत बौद्ध एवं स्मार्त प्रभावों को स्वीकार करता हुआ एक नया रूप लेने लगा था । नाय मत का उदय इसी से हुआ । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, ''हिमालय के पाद देश में प्रचलित नाथपंथ बौद्धधर्म को प्रभावित करके वज्रयान शाखा के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी थी ।''

डॉ० ईश्वरीप्रसाद का विचार है कि राजपुत –शौर्य के उदय के साथ ब्राह्मणधर्म का उत्थान भी होने लगा था । इस परिस्थिति का मुकावला करने के लिए बौद्धधर्म भी रूप बदल–बदल कर अपनी जड़ें जमाने को सर्वत्र प्रयत्नशील था । उसकी महायान शाखा के मंत्र–तंत्र, जादू–टोने, ध्यान–धारणा आदि के अनेक साधन साधारण जनता में छाए हुए थे । जनता हिन्दू–साधुओं का जितना आदर करती थी उतना बौद्ध संन्यासियों का भी करती थी । लेकिन ऐसे प्रभाव से सामान्य जन में

आत्मविश्वास की कमी आती जा रही थी । शैव और शाक्त साधकों का बढ़ता हुआ प्रभाव तो और भी ज्यादा भय पैदा करनेवाला था । उनको मानना पड़ता था । वे जनता को चौरासी लाख योनियों में भटकने का भय दिखाते थे । धार्मिक स्थलों की दुर्दशा हो चली थी । व्यभिचार, आडम्बर, आदि जिन दोषों का बौद्ध विहारों में प्राधान्य हो गया था, उन्हीं से हिन्दू मंदिर भी अछूते न थे । पुजारी और महंत धर्म के सच्चे स्वरूप से अपरिचित थे तथा अधिकार एवं धन का प्रलोभन प्रबल हो चला था । सोमनाथ मंदिर पर किये गये आक्रमण में महमूद की सफलता से जहाँ एक ओर शैव एवं जैन संघर्ष की सूचना मिलती है, वहाँ मंदिरों में बढ़े हुए विलास एवं धन संग्रह की प्रवृत्ति सामने आती है ।

जब देश भर धार्मिक अशांति फैली हुई थी तब इस्लाम धर्म का प्रवेश कम महत्वपूर्ण नहीं था । जनता अशिक्षित थी, उनके सामने धर्म के अनेक मार्ग थे । किंतु राह दिखानेवाले लोग ईमानदार नहीं थे । बौद्ध संन्यासी जनता के सामने यौगिक चमत्कार का प्रदर्शन करते थे । वैदिक एवं पौराणिक मतों के समर्थक खण्डन-मण्डन के चक्कर में पड़े हुए थे । उधर जैन धर्म के पौराणिक आख्यानों को नए ढंग से गढ़कर जनता का विश्वासभाजन बन रहे थे । वैष्णवों की धार्मिक कथाएँ जैन-कथाएँ बनती जा रही थीं । जनता के सामने आस्तिकता और नास्तिकता का आवरण ओढ़े एक अजीब-सा वातावरण बन रहा था । वैष्णवों के राम और कृष्ण पौरुष के प्रतीक थे । उन्हीं के चरितों में युद्ध धर्म का अंग सिद्ध हो चुका था । जैन धर्म में वे भी अब दीक्षित हो रहे थे ।

तात्पर्य यह है कि धार्मिक मतवादों और बाह्याचारों की विविधता के कारण जनता भ्रमजाल में पड़ी हुई थी । शंकर द्वारा प्रचारित वेदांत मत और पंच देवों की पूजा अन्त:सलिला के रूप में फिर भी एकता का साधन बनी हुई थी । ऐसे में लगभग बारहवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत से भक्तिआंदोलन की प्रखर धारा प्रवाहित होने लगी । रामानुज का श्री संप्रदाय, निम्बार्क का सनकादि संप्रदाय, विष्णुस्वामी का ब्रह्मसंप्रदाय और माध्वाचार्य का रुद्र संप्रदाय स्थापित हुए । इन चार संप्रदायों के प्रचारक उत्तर भारत में आने लगे और राम-कृष्ण भक्ति के साथ निर्गुण भक्तिधारा लोकप्रिय होने लगी ।

1.4.4 सांस्कृतिक परिस्थिति

हिन्दी साहित्य का आदिकाल ऐसे समय में आरंभ हुआ जब भारत संस्कृति के स्तर पर उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच चुका था । जब भक्तिकाल को भारतीय संस्कृति ने अपना दायित्व सौंपा, तब भारत में मुस्लिम संस्कृति के स्वर्ण-शिखर स्थापित होने लगे थे । इस प्रकार से आदिकाल को दो संस्कृतियों के संक्रमण एवं ह्रास -विकास की गाथा कहा जा सकता है ।

सम्राट हर्षवर्धन के विशाल साम्राज्य ने हिन्दूधर्म और संस्कृति को राष्ट्रव्यापी एकता का आधार दिया था । फलस्वरूप छोटे-मोटे भेदभाव मिट गए थे । स्वाधीनता एवं देशभक्ति के भाव दृढ़ होने लगे थे । जातीय गौरव की भावना की अभिव्यक्ति संगीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि कलाओं में हो रही थी । स्थापत्य के क्षेत्र में विशेषत: मंदिरों का निर्माण धार्मिक भावना का परिचायक था । भुनवेश्वर, खजुराहो, पुरी, सोमनाथ, बेलोर, कांची, तंजौर आदि स्थानों पर अनेक भव्य मंदिर का निर्माण आदिकाल के आरंभ में ही हो गया था । आबू का जैन मंदिर जो भारतीय स्थापत्य का बेजोड़ नमूना है, ग्यारहवीं शताब्दी की महत्वपूर्ण देन है । इस समय प्रत्येक हिन्दू के लिए उसका संपूर्ण जीवन धार्मिक कर्तव्यों का प्रतिरूप था और चरित्र धर्मभावना से प्रेरित था । संगीत, मूर्ति, चित्र आदि कलाओं में भी धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति हो रही थी । अरब इतिहासकार अलबरूनी भारतीय कलाओं में धार्मिक भावनाओं की ऐसी व्यापक अभिव्यक्ति देखकर चकित रह गया था । उसने लिखा है, ''वे (हिन्दू) कला के अत्यंत उच्च सोपान पर आरोहण कर चुके हैं । हमारे लोग (मुसलमान) जब उन्हें (मंदिरों आदि को) देखते हैं, तो आश्चर्य-चकित रह जाते हैं । वे न तो उनका वर्णन कर सकते हैं, न वैसा निर्माण ही कर सकते हैं । महमूद गजनवी भी भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता पर मुग्ध हुआ । तत्कालीन जन-जीवन जो शास्त्र एवं कलाओं के अनुशीलन में तल्लीन था, जगनवी के लिए ईर्ष्या का कारण बना । किंतु देश के भाग्य की विडम्बना यह रही कि सदियों से श्रेष्ठता की साधना में लिप्त वह जीवन महमूद गजनवी जैसे आक्रांताओं का कोपभाजन बन गया । राजपुत राजाओं का प्रतिशोध तो हुआ पर उनके लिए राज्य एवं व्यक्तिगत गौरव की रक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गया ।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी–साहित्य के आदिकाल में जनजीवन सभी तरह से अस्त–व्यस्त था । आये दिन लड़ाई–झगड़ों से अमन–चैन नहीं था । राजसत्ता से जनता पीड़ित थी । थोड़े दिनों के लिए कोई सुशासक आता भी था तो दूसरे का आक्रमण सबकुछ तहस–नहस कर देता था । लोभी, कामी शासक लोगों को बराबर सताते थे । युद्ध में हिस्सा लेनेवाले सैन्य–सांमत भी जीवन को तुच्छ मानकर जान हथेली पर लेकर लड़ते थे या फिर सुरा–सुंदरी के साथ विलासिता में वक्त गुजारते थे । वीरों के जीवन के दो पक्ष थे–वीरत्व और विलास । पृथ्वीराज जैसे वीर का जीवन भी ऐसा ही था । उनके जीवन–चरित पर आधारित 'पृथ्वीराज रासो' इसका विशद चित्र प्रस्तुत करता है । सामाजिक जीवन भी अस्तव्यस्त था । धर्म की आड़ में जनता नचायी जा रही थी । पूजा–उपासना आदि के आड़म्बरपूर्ण बाह्याचार, वैदिक कर्मकाण्डों की भरमार, तंत्र–मंत्र, टोना–टोटका का घटाटोप लोगों को परेशान कर रहा था । सिद्धों की चर्यापद, जैनियों की अनेक रचनाएँ इन धार्मिक स्थितियों की आज हैं । समाज में छुआ–छूत भेदभाव, ऊँच–नीच का झमेला, धनी–निर्धन की विषमता, जीवन को विषमय कर रहे थे ।

इसके फलस्वरूप साहित्य में विविध प्रवृत्तियाँ प्रतिबिंबित हो रही थीं । कम से कम निम्नलिखित प्रकार के काव्य लिखे जा रहे थे–

1. बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ
2. जैनों की धार्मिक रचनाएँ
3. वीर काव्य
4. नैतिक/भक्तिपरक रचनाएँ
5. लौकिक श्रृंगारिक रचनाएँ ।

इन पर अलग से विचार किया जाएगा ।

1.5 आदिकालीन साहित्यिक सामग्री का वर्गीकरण

आदिकाल में उपलब्ध साहित्यिक सामग्री का वर्गीकरण निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है । जैसे–

(१) सिद्ध साहित्य, (२) जैन साहित्य, (३) नाथ साहित्य, (४) रासो साहित्य, (५) लौकिक साहित्य, (६) गद्य रचनाएँ, (७) अमीर खुसरो एवं (८) विद्यापति की रचनाएँ ।

1.5.1 सिद्ध साहित्य

बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्व का प्रचार करने के लिए सिद्धों ने जनभाषा में जो साहित्य रचना की वह हिन्दी का सिद्धसाहित्य माना जाता है । राहुल जी ने चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें सिद्ध सरहपा से सिद्ध साहित्य का आरंभ माना जाता है । इन सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा एवं कुक्करिपा हिन्दी के मुख्य सिद्ध कवि हैं । यहाँ संक्षेप में इनके व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दिया जा रहा है ।

- **सरहपा :**

ये सरहपा, सरोजवज्र, राहुलभद्र आदि कई नामों से प्रख्यात हैं । जाति से ब्राह्मण थे । राहुल जी ने इनका समय 769 ई० माना है, जिससे अधिकांश विद्वान सहमत हैं । इन्होंने बत्तीस ग्रंथों की रचना की हैं, जिनमें 'दोहाकोष' हिन्दी की रचनाओं में प्रसिद्ध है । इन्होंने पाखण्ड और आडम्बर का विरोध किया, गुरु सेवा पर महत्व दिया । ये सहज भोग मार्ग से जीव को महासुख की ओर ले जाते हैं । इनकी भाषा सरल तथा गेय है । काव्यों में भावों का सहज प्रवाह मिलता है । एक उदाहरण प्रस्तुत है :

नाद न बिन्दु न रवि न शशि मण्डल,

चिअराअ सहाबे मूकल ।

अजुरे उजु छाड़ि मो लेहु रे बंक

निअहि बोहिमा जाहु रे लांक

हाथेरे कांकांण मा लोउ दापण,

अपगे अपा बुझतु निअन्मण ।

सरहपा की इस कविता से स्पष्ट ह कि उनकी भाषा हिन्दी ही है, केवल उस में कहीं–कहीं अपभ्रंश का प्रभाव है । भाव और शिल्प की जो परंपरा संत–साहित्य में जाकर नये रूप में उभरी, उसका बीज–रूप सरहपा के काव्य में द्रष्टव्य है ।

- **शबरपा :**

इनका जन्म क्षत्रिय –कुल में 780 ई० में हुआ था । इन्होंने सरहपा से ज्ञान प्राप्त किया था । शबरों का सा जीवन व्यतीत करने के कारण ये शबरपा कहे जाने लगे । 'चर्यापद' इनकी प्रसिद्ध रचना है । ये माया मोह का मार्ग बतलाते हैं । इनकी कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

हेरि ये मेरी तइला बाड़ी खस में समतुला

धुकड़ए सेरे कपासु फुटिला ।

तइला बाड़िर पासेर जोहणा वाड़ी ताएला

फिटेलि अंधारि रे आकाश फुलिआ ।।

- **लुइपा :**

ये राजा धर्मपाल के शासन काल में कायस्थ परिवार में उत्पन्न हुए थे । सरहपा इनके गुरु थे । इनकी साधना का प्रभाव देखकर ओड़िशा का तत्कालीन राजा तथा मंत्री इनके शिष्य बन गए । चौरासी सिद्धों में इनका सबसे ऊँचा स्थान माना जाता है । इनकी कविता में रहस्य भावना की प्रधानता है । एक उदाहरण देखिए :

काआ तरुवर पंच विडाल, चंचल चीए पइठो काल ।

दिट करिअ महासुइ परिमाण, लुइ भरमइ गुरु पुच्छि अजाण ।

- **डोम्भिपा :**

इनका जन्म लगभग 840 ई० को मगध के क्षत्रिय वंश में हुआ था । विरूपा से इन्होंने दीक्षा ली थी । इनके द्वारा रचित इक्कीस ग्रंथ हैं, जिनमें 'डोम्बि–गीतिका' , 'योगचर्या' 'अक्षरद्विकोपदेश' आदि प्रसिद्ध हैं । इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए ।

गंगा जउना माझेरे बहर नाइ ।

ताँहि बुड़िली मातंगि पोइआली ले पार करई ।

बातहु डोम्बी बाह लो डोम्बी वाटत भइल उछारा ।

सद्गुरु पाऊ पए जाइब पुणु जिणउरा ।।

- **कण्हपा :**

इनका जन्म 820 ई० में कर्णाटक के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था । बिहार की सोमपुरी में ये रहते थे । ये जलन्धरपा के शिष्य थे । कई सिद्धों ने इनकी शिष्यता स्वीकार की थी । इनके लिखे चौहत्तर ग्रंथ बताये जाते हैं, जिनमें अधिकांश दार्शनिक विषयों पर हैं । रहस्यात्मक भावनाओं से परिपूर्ण गीतों की रचना करके ये हिन्दी के कवियों में प्रसिद्ध हुए । इन्होंने शास्त्रीय

रूढ़ियों का भी खण्डन किया है । इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए :

आगम वेअ पुराणे, पंडित मान बहंति ।

पक्क सिरिफल अलिअ, जिम वाहेरित भ्रमयंति ।

- **कुक्कुरिपा :**

इनका जन्म कपिलवस्तु के एक ब्राह्मण–वंश में माना जाता हैं । इनके जन्मकाल का पता नहीं चला सका । चर्पटीया इनके गुरु थे । इन्होंने सोलह ग्रंथों की रचना की हैं । ये भी सहज जीवन के समर्थक थे । इनके कविता का एक उदाहरण देखिए–

हाँउ निवासी रवमण भतारे, मोहर विगोआ कहण न जाइ ।

फेटलिउ गो माए अन्न उड़ि चाहि, जा एथु बाहाम सो एथु नाहिं ।।

इन सिद्ध कवियों के अतिरिक्त अन्य सिद्ध कवि भी जनभाषा में अपनी वाणी का प्रचार पद्य में करते थे । परंतु उनमें कवित्व शक्ति उतनी नहीं है । इन कवियों ने हिन्दी साहित्य में कविता की, जो प्रवृत्तियाँ आरंभ की, उनका प्रभाव भक्तिकाल तक चलता रहा । रूढ़ियों के विरोध का अक्खड़पन जो कबीर आदि की कविता में मिलता है, इन सिद्ध कवियों की देन है ।

1.5.2 जैन साहित्य

जैस साधुओं ने पश्चिमी क्षेत्र में अपने मत का प्रचार हिन्दी–कविता के माध्यम से किया । इन कवियों की रचनाएँ आचार, रास, फागु, चरित आदि विभिन्न शैलियों में मिलती हैं । जैन काव्यों की आचार शैली में घटनाओं के स्थान पर उपदेशात्मकता को प्रधानता दी गई है । चरितकाल और फागु शैली साधारण स्तर की हैं । जैन साधुओं ने 'रास' को एक प्रभावशाली रचना–शैली का रूप दिया । जैन तीर्थंकरों के जीवन चरित तथा वैष्णव अवतारों की कथाएँ जैन आदर्शों के आवरण में 'रास' नाम से पद्यबद्ध की गयी है । जैन मंदिरों में 'रास' का गायन परंपरा मिलती है । चौदहवीं शताब्दी तक इस परंपरा का प्रचलन होता रहा । अत: जैन साहित्य में रासग्रंथ सबसे लोकप्रिय आगे चलकर वीरगाथाओं में प्रचलित 'रास' शब्द को ही 'रासो' कहा गया है किंतु उनकी विषयवस्तु जैन–काव्यों से भिन्न थी ।

प्रमुख शैलियों में लिखी गई आदिकालीन जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय निम्नप्रकार से है–

- **श्रावकाचार :**

प्रसिद्ध जैन आचार्य देवसेन 933 ई० में इस काव्य की रचना की थी । ये एक अच्छे कवि और उच्चकोटि के चिंतक थे । इस काव्य ग्रंथ में 250 दोहों में श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया है । इसमें गृहस्थ के कर्तव्यों पर भी विस्तार से विचार किया है । इनकी रचना दोहा छन्द में हुई है । एक उदाहरण इस प्रकार है :–

जो जिण सासण भाषियउ, सो मइ कहियउ सारू ।

जो पालइ सई भाउ करि, सो संरि पावइ पारु ।।

- **भरतेश्वर–बाहुबली रास :**

मुनि जिनविजय के अनुसार जैन साहित्य की रास परंपरा का यह प्रथम ग्रंथ है । शालिभद्रसूरी ने इसकी रचना 1184 ई० में किया है । अपने समय के ये प्रसिद्ध जैन आचार्य तथा कवि थे । इस ग्रंथ में भरतेश्वर तथा बाहुबली का चरित वर्णन है । 205 छन्दों में रचित यह एक सुदंर खण्डकाव्य है । भाषा में नाटकीयता, उक्ति–वैचित्र्य तथा रसात्मकता पायी जाती है । आगे की रासो रचनाओं को इस ग्रंत ने अनेक रूपों में प्रभावित किया । इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए–

बोलह बाहुबली बलवन्त / लोह खण्डि तउ गरवीउ हंत ।

चक्र सरीसउ चूनउ करिऊँ/सयलहँ ग्रोत्रह कुल सँह रउँ ।।

- **चन्दनबाला रास :**

इसकी रचना लगभग 1200 ई० में आसगु नामक कवि ने की थी । यह 35 छंदों का एक खण्डकाव्य है । एक लघुकथा पर आधारित यह जैन रचना करुण रस की गंभीर व्यंजना करती है । कवि ने भाव–सौंदर्य के जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसमें उसकी काव्य–निष्ठा व्यंजित हुई है ।

- **स्थूलिभद्र रास :**

यह काव्य जिन धर्म सूरि की रचना है । इसका रचना काल 1209 ई० है । काव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है, फिर इसकी भाषा का मूल रूप हिन्दी है । धार्मिक दृष्टि से प्रेरित होने पर भी इसकी भाव–भूमि और अभिव्यंजना काव्यानुकूल है ।

- **रेवंतगिरि रास :**

इसकी रचना विजयसेन सूरि ने 1231 ई० में की थी । इस काव्य में तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिभा तथा रेवंतगिरि तीर्थ का वर्णन है । यात्रा तथा मूर्ति स्थापना की घटनाओं पर आधारित यह 'रास' वास्तुकलात्मक सौंदर्य का भी आकर्षण प्रस्तुत करता है । प्रकृति के रमणिक चित्र इस काव्य के भाव–पक्ष तथा कलापक्ष दोनों का शृंगार करते हैं । एक उदाहरण देखिए–

कोयल कलचलो मोर केका रओ
सम्मए महुयर महुर गुँजारवों ।
जलद जाल बंबाले नीझरणि रमाउलु रेहइ,
उज्जिल सिहरू अलि कज्जल सामलु ।।

- **नेमिनाथ रास :**

इसके कवि सुमति गणि है । इस काव्य का रचना–काल 1213 ई० है । 58 छंदों की इस रचना में कवि ने नेमिनाथ का चरित्र सरस शैली में प्रस्तुत किया है । नेमिनाथ के प्रसंग में श्रीकृष्ण का वर्णन इस काव्य का विषय है और दोनों के माध्यम से विभिन्न भावों की व्यंजना हुई है । रचना की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिन्दी है ।

1.5.3 नाथ साहित्य

आदिकाल में नाथपंथियों की हठयोग साधना सिद्धों की वाममार्गी भोगप्रधान योगसाधना की प्रतिक्रिया के रूप में हुई । राहुलजी ने सिद्धों की परंपरा का विकसित रूप नाथ–पंथ को माना है । इस पंथ के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ (मच्छन्दरनाथ) तथा गोरखनाथ माने गए हैं । डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार नाथपंथ के चरमोत्कर्ष का समय बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अंत तक है । वे मानते थे कि नाथ–पंथ से ही भक्तिकाल के संत–मत का विकास हुआ था, जिसके प्रथम कवि कबीर थे । इस मत का समर्थन कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से हो जाता है–नाथपंथी रचनाओं की अनेक विशेषताएँ संतकाव्य में यथावत् विद्यमान हैं ।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''नाथपंथ या नाथ–संप्रदाय के सिद्धमत, सिद्ध–मार्ग, योग–मार्ग, योग–संप्रदाय, अवधूत –मत एवं अवधूत –संप्रदाय नाम भी प्रसिद्ध है ।''उनके कथन का यह अर्थ नहीं कि सिद्धमत और नाथ मत एक ही है । उनका आशय यह है कि इन दोनों मार्गों की एक ही नाम से पुकारा जाता है । कारण यह है कि मत्स्वेन्द्रनाथ (मच्छन्दरनाथ) तथा गोरखनाथ (गोरखनाथ) सिद्धों में भी गिने जाते थे । यह प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्रनाथ नारी–साहचर्य के आचार में जा फँसे थे, उनके शिष्य गोरखनाथ ने उद्धार किया था । वस्तुत: इस लोक–चर्या के मूल में ही सिद्ध मत और नाथ–मत का अंतर छिपा हुआ है । सिद्धगण नारी–भोग में विश्वास करते थे, किंतु नाथपंथी इसके विरोधी थे । नाथ साहित्य के प्रमुख नाथों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया गया है–

- **गोरखनाथ :**

गोरखनाथ नाथ–साहित्य के आरंभकर्ता माने जाते हैं । सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ उनके गुरु थे, किंतु उन्होंने सिद्धों के मतों का विरोध किया था । गोरखपंथी साहित्य के अनुसार आदिनाथ स्वयं शिव थे । उनके पश्चात् मत्स्येन्द्रनाथ हुए । जिनके आचरण का विरोध उनके शिष्य गोरखनाथ ने किया । इनके समय के बारे में विद्वानों में मतभेद है । नवीन खोजों के आधार पर यही धारणा अधिक प्रबल हुई है कि गोरखनाथ ने ईसा की तेरहवीं शती के आरंभ में अपना साहित्य लिखा । उनके ग्रंथों की संख्या 40 मानी जाती है । परंतु यह भी निर्विवाद नहीं है ।

गोरखनाथ से पहले कई संप्रदाय थे और आगे चलकर सबका नाथ पंथ में विलय हो गया । शैवों, शाक्तों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन तथा वैष्णव योगमार्गी भी उनके संप्रदाय में आ मिले थे । इनकी रचनाओं की विषयवस्तु धार्मिक है । इसी कारण रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी धार्मिक रचनाओं को साहित्य से बाहर रखा । परंतु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस पक्ष में नहीं हैं । उनका मानना है कि इन रचनाओं में जीवन की चरम अनुभूतियों के सघन चित्रण होने के कारण उन्हें साहित्य से दूर नहीं किया जा सकता । इसी साहित्य का विकास भक्तिकाल में ज्ञान–मार्गी संतकाव्य के रूप में हुआ । अत: उसकी साहित्यिकता स्वीकार करना ही अधिक न्याय संगत है ।

गोरखनाथ ने हठयोग का उपदेश दिया था । उन्होंने षड़चक्रवाला योग–मार्ग हिन्दी–साहित्य में चलाया था । इस मार्ग में विश्वास करनेवाला हठयोगी साधना द्वारा शरीर और मन को शुद्ध करके शून्य में समाधि लगाता था, वहीं ब्रह्म का साक्षात्कार करता था । गोरखनाथ ने लिखा है कि धीर वह है, जिसका चित्त विकार–साधन होने पर भी विकृत नहीं होता–

नौ लख पातरि आगे नाचै, पीछे सहज अखाड़ा ।
ऐसे मन लै जोगी खेलै, तब अंतरि बसै भँड़ारा ।।

मूर्त जगत में अमूर्त के स्पर्श को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

अंजन माँहि निरंजन भेट्या, तिल मुख भेट्या तेलं ।
मूरति माँहि अमूरति परस्या, भया निरंत खेलं ।।

गोरखनाथ की कविताओं से स्पष्ट होता है कि भक्तिकालीन संतमार्ग के भावपक्ष ही नहीं वरं भाषा और छन्द पर भी उनका प्रभाव पड़ा है जिसने भक्तिकाल की कई प्रवृत्तियों को जन्म दिया है ।

- **अन्य कवि :**

नाथ–साहित्य के विकास में जिन अन्य कवियों ने योग दिया, उनमें चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, चुणकर नाथ, भरथरी, जलन्श्रीपाव आदि प्रसिद्ध हैं । इन कवियों की रचनाओं में विशेषत: उपदेश और खण्डन मण्डन है । तेरहवीं शताब्दी में नाथपंथी कवियों ने अपनी वाणी का प्रचार किया था । गोरखनाथ की हठयोग साधना में ईश्वरवाद व्याप्त था । इन हठयोगियों ने भी उस रहस्यवाद का प्रचार किया जो आगे चलकर संतमत में प्रतिफलित होता है ।

1.5.4 रासो साहित्य

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रचित जैन 'रास–काव्य' वीरगाथाओं के रूप में लिखित 'रासो काव्य' से भिन्न है । जैन रासकाव्य की विषयवस्तु धार्मिक है तथा रासोकाव्य की विषयवस्तु का मूल संबंध राजाओं के चरित वर्णन से है । इन काव्यों के अध्ययन से पता चलता है कि उनके रचयिता जिस राजा के चरित का वर्णन करते थे, उनके उत्तराधिकारी राजगण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित भी सम्मिलित करा देते थे । यही कारण है कि आदिकाल में रचित रासो ग्रंथों में मध्यकालीन राजाओं का वर्णन मिलता है तथा भाषा में भी बाद के भाषारूपों की झलक मिलती है । सत्य यह है कि रासो–काव्यों की रचना आदिकाल में हुई थी पर उनमें जो अंश उत्तरवर्ती राजाओं से संबंधित हैं, वे प्रक्षिप्त हैं । आदिकालीन रासो–ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय नीचे प्रस्तुत किया गया है :

- **खुमाण रासो :**

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इसका रचनाकाल नवीं शताब्दी है । इस काव्य के नायक चितौड़ –नरेश खुमाण हैं, इनके युद्ध वर्णन काव्य की विषयवस्तु है । खुमाण का शासनकाल नवीं शताब्दी माना जाता है परंतु राजस्थान के वृत्तसंग्राहकों ने इसको सत्रहवीं शताब्दी की रचना बताया है क्योंकि इसमें सत्रहवीं शताब्दी के चितौड़ नरेश राजसिंह तक के राजाओं का वर्णन मिलता है और उसी आधार पर वे इसे आदिकाल की रचना नहीं मानना चाहते । वास्तविकता यह है कि इस काव्य का मूलरूप नवीं शताब्दी में ही लिखा गया था । तत्कालीन राजाओं का सजीव वर्णन उस समय की परिस्थितियों के यथार्थ ज्ञान तथा भाषा के आरंभिक हिन्दी रूप के प्रयोग से इस तथ्य के प्रमाण मिलते हैं ।

राजस्थान के वृत्तसंग्राहकों के पास इतिहास समझने की पैनी दृष्टि नहीं थी, इसलिए उन्होंने आदिकाल की रचनाओं को मध्यकाल के भण्डार में डालने का दुराग्रह किया है । जबकि वह काव्य उस काल की प्रवृत्ति से भिन्न पाया गया है । अधिकांश विद्वान् 'खुमाण रासों' के रचनाकार खुमाण नरेश के समकालीन दलपत विजय को माना है । यह पाँच हजार छन्दों का विशाल ग्रंथ है । वीर रस के साथ–साथ शृंगार वर्णन आदि से अंत तक मिलता है । इसमें दोहा, सवैया, कवित्त आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं । राजस्थानी हिन्दी में लिखे इस काव्य का उदाहरण देखिए :

पिउ चितोड़ न आविऊ, सावण पहिली तीज ।
जो वै वाट बिरहिणी खिण–खिण अणवै खीज ।।
संदेसो पिण साहिबा, पाछो फिरिय न देह ।
पंछी घाल्या पिंज्जरें, छूटण रो संदेह ।।

- **बीसलदेवरासो :**

1155 ई० में नरपति नाल्ह ने इस रासोकाव्य की रचना की है । एक उदाहरण देखिए :

बारह सै बहोत्तराहाँ मँझारि । जेठ वही नवमी बुधिवारि ।
नाल्ह रसायण आरम्भई । सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि ।
कासमीरा मुख मण्डनी । रास प्रसंगों बीसलदेराइ ।

इस काव्य के रचनाकाल को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं । डॉ० मोतिलाल मेनारिया इसे सोलहवीं शताब्दी का मानते हैं परंतु माताप्रसाद गुप्त इसे चौदहवीं शताब्दी की रचना के रूप में प्रमाणित करते हैं ।

'बीसलदेवरासों' मूलरूप से गेयकाव्य था । इसके रूप में परिवर्तन होता रहा है । परंतु डॉ० मेनारिया का मत है कि यह काव्य गेय नहीं था । शायद का अर्थ 'लोकगीतों की तरह गाया जाना' लगाते हैं और इसी आधार पर कहते हैं कि राजस्थान में कभी भी यह गेय नहीं रहा । डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 125 छंदों की एक प्रति का संपादन किया है । यह पाठ 'बीसलदेवरासो' का मूल रूप बताया जाता है । इसकी भाषा आदिकालीन आरंभिक हिन्दी का सहज रूप है ।

'बीसलदेवरासो' हिन्दी के आदिकाल की एक श्रेष्ठ काव्य–कृति है । इसमें अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव तृतीय के विवाह, वियोग एवं पुनर्मिलन की कथा सरस शैली में वर्णन है । सामन्ती जीवन के प्रति गहरी अरुचि का सजीव चित्र इस काव्य में मिलता है । 'सन्देशरासक' के समान ही 'बीसलदेव रासो' की भाव–भूमि प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति से सरस है । इस काव्य के वर्णन में एक संस्कार दृष्टि मिलती है, जो नारी–गरिमा की स्थापना करती है । कवि ने प्रकृति के रमणीय चित्रों से भी भावचित्रण को सौन्दर्य दिया है । बारह मासों तथा ऋतुओं के प्राकृतिक चित्र संयोग–वियोग में उद्दीपन का काम करते हैं । विरह की विभिन्न दशाओं के वर्णन में समस्त प्रकृति सहायक हुई है ।

'बीसलदेवरासो' की शृंगार परंपरा का आदिकाल में ही अंत नहीं हो जाता । यह परंपरा विद्यापति से होती हुई भक्तिकाल

में प्रेमाख्यानक काव्यों तक पहुँचकर तथा कृष्णभक्तों को भी प्रभावित किया । आगे चलकर इस परंपरा का विकास रीतिकाल में जाकर सरस शृंगार काव्य रूपों में पाया गया ।

- **हम्मीर रासो :**

'प्राकृत-पैंगलम्' में इस काव्य के कुछ छन्द मिले थे और उन्हीं के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके अस्तित्व की कल्पना की थी । उनका अनुमान था कि इसमें हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्धों का वर्णन तथा हम्मीर की प्रशंसा चित्रित होगी । किन्तु राहुल जी ने उन पद्यों को जज्जल नामक किसी कवि की रचना घोषित की है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि 'हम्मीर' शब्द अमीर का विकृत रूप है, जो किसी पात्र का नाम न होकर एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता रहा है । अत: शार्ङ्गधर-कृत इस 'हम्मीर रासो' का अस्तित्व संकट में पड़ा हुआ है । अभीतक इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है ।

- **परमालरासो :**

उत्तरप्रदेश में 'आल्हखण्ड' के नाम से जो काव्य प्रचलित है, वही 'परमालरासो' के मूलरूप का विकसित रूप माना जाता है । यह रासो लोक-गेय काव्य था, अत: इसकी मूलरूप की सुरक्षा नहीं हो सकी । इसमें अनेक अंश बाद में जोड़े गये हैं तथा अनेक अंशों में वर्णन और भाषा संबंधी परिवर्तन किये गए हैं । धीरे-धीरे 'आल्ह' लोकगीत की एक शैली बन गया है । अत: आधुनिक विषयों पर भी 'आल्ह' लिखे जाने लगे हैं । 1865 ई० में चार्ल्स इलियट ने जिस 'आल्हखण्ड' का प्रकाशन कराया था, वह मौखिक परंपरा पर ही आधारित है । इसी प्रति के आधार पर डॉ० श्यामसुंदर दास ने 'परमालरासो' का पाठ निर्धारण किया और उसे नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया । इस नये रूप में उपलब्ध 'परमाल रासो' यद्यपि सर्वथा प्रामाणिक कृति तो नहीं है, तथापि आदिकाल में रचित मूल 'परमालरासो' के ऐतिहासिक अस्तित्व को समझने में सहायक अवश्य है ।

'परमालोरासो' के रचयिता जगनिक नामक कवि माने जाते है, जो महोबा के राजा परमर्दिदेव के आश्रित थे । उन्होंने इस काव्य में आल्हा और ऊदल नामक दो वीर सरदारों की वीरतापूर्ण लड़ाइयों का वर्णन किया है । इस आधार पर 'परमाल रासो' का रचना-काल तेरहवीं शती का आरंभ माना जाता है । इसमें वीर-भावना का जितना प्रौढ़ रूप मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है । आज भी जब इसे गायक संगीत के साथ गाते हैं, तब दुर्बलों में भी तलवार चलाने की स्फूर्ति आ जाती है । विवाह और शत्रु -प्रतिशोध वीरता इस काव्य की मुख्य विषयवस्तु है । भावों के अनुसार ही भाषा भी चली है ।गेयता का गुण इस काव्य को विकसनशील लोकगाथा -काव्य की श्रेणी में ले जाता है, किंतु इसकी रचना लोकगाथा के रूप में न होकर शुद्ध काव्य के रूप में हुई थी ।

भाषा की दृष्टि से इस काव्य का मूल्यांकन करना संभव नहीं, क्योंकि मूल रूप का कोई भी अंश शुद्ध रूप में सुरक्षित नहीं है । उसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहे हैं । छन्द-विधान की दृष्टि से इस काव्य की एक विशेष शैली है, जिसे आल्ह शैली कहना ही उचित है । इसकी वर्णन-शक्ति और प्रभावोत्पादकता को समझने में निम्नांकित पंक्तियों सहायक हो सकती हैं :

बारह बरस लौं कूकर जीवै, अरु तेरह लौं जियै सयार ।
बरस अठारह क्षत्रिय जीवै, आगे जीवन कौं धिक्कार ।।

- **पृथ्वीराज रासो :**

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि ''(चन्द) हिन्दी के प्रधान महाकवि माने जाते हैं और इनका 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है ।'' उन्होंने चन्दबरदायी को दिल्ली -नरेश पृथ्वीराज चौहान का सामन्त और राजकवि माना है । महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार चन्दबरदायी का जन्म लाहौर में हुआ था । इनके जन्मकाल को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं । शुक्ल जी ने इनका जन्म 1168 ई० माना है तथा लिखा है, ''रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे । इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी, जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था । इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही

दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ था ।'' शुक्ल जी ने हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त चंद का एक वंश–वृक्ष भी प्रस्तुत किया है । वह वंश–वृक्ष शास्त्री जो को नानूराम भाट से प्राप्त हुआ था, जो स्वयं को चंद का वंशज मानता था । उसके कथनानुसार चंद के चार पुत्र थे, जिनमें से चतुर्थ पुत्र जल्लण था । जिस समय पृथ्वीराज को मुहम्मद गोरी बन्दी बनाकर अपने देश ले जा रहा था, उस समय चन्द भी महाराज के साथ गया था तथा अपने पुत्र जल्लण को 'पृथ्वीराज रासो' सौंप गया था । इस संबंध में यह उक्ति प्रसिद्ध है : ''पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज ।'' और यह भी कहा जाता है कि जल्लण ने चन्दबरदायी के अधूरे काव्य को पूरा किया था :

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि ।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द कृत, चन्द नन्द उर्द्धरय तिमि ।।

यह बात प्रसिद्ध है कि चन्द ने स्वामी के लिए अपना बलिदान दिया था । वह बहुत प्रतिभाशाली, दूरदर्शी, वीर तथा स्वामिभक्त कवि था । पृथ्वीराज उसे सदा अपने सखा के समान साथ रखते थे एवं उसकी हर बात मानते थे ।

'पृथ्वीराज रासो' के चार संस्करण प्रसिद्ध हैं । नागरीप्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित सबसे बड़ा संस्करण, जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं । सभा ने 1585 ई० में लिखित प्रति के आधार पर 'रासो' का संपादन कराया था । इस संस्करण में 69 समय (खण्ड) तथा 16306 छंद हैं । द्वितीय रूप में उपलब्ध 'पृथ्वीराजरासो' 7000 छन्दों का काव्य माना जाता है । इसका प्रकाशन नहीं हुआ किंतु अवोहर एवं बीकानेर में इसकी प्रतियाँ सुरक्षित हैं, जो सत्रहवीं शताब्दी ईस्वी में लिखी गई हैं । तीसरा लघु संस्करण 3500 छन्दों का है । जिसमें केवल 19 समय है । इस संस्करण की हस्तलिखित प्रतियाँ भी बीकानेर में सुरक्षित हैं । चौथा संस्करण सबसे छोटा है, जिसमें केवल 1300 छन्द में हैं । इसी संस्करण को डॉ० दशरथ शर्मा आदि कुछ विद्वान् मूल रासो मानते हैं ।

- **पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता :**

'पृथ्वीराजरासों ग्रंथ की प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में मतभेद है । विद्वानों में कई वर्ग बन गए हैं । पहले वर्ग में वे हैं जो मानते हैं कि पृथ्वीराज रासों का जो संस्करण सभा से प्रकाशित हुआ है, वही प्रामाणिक है । इस वर्ग में डॉ० श्यामसुंदर दास, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मिश्रबन्धु, कर्नल टॉड आदि हैं । दूसरे वर्ग में रामचन्द्र शुक्ल, कविराजा श्यामलदान, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डॉ० बूलर, मुंशी देवीप्रसाद आदि विद्वान हैं, जिनका मानना है कि 'रासो' सर्वथा अप्रामाणिक ग्रंथ है । आश्चर्य की बात है कि शुक्लजी ने इसे अप्रामाणिक मानने के वावजूद उसे अपने ग्रंथ में आदिकाल के इतिहास में रखा है । तीसरे वर्ग के विद्वान् वे हैं जो यह मानते हैं कि पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि चन्दबरदायी ने ही पृथ्वीराज रासो लिखा था, किंतु उसका मूलरूप आजकल उपलब्ध नहीं है । इस वर्ग में मुनि जिनविजय, डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि विद्वान् हैं । चौथा वर्ग नरोत्तमदास स्वामी का है, जो सबसे अलग बात कहते हैं कि चंद ने पृथ्वीराज के दरबार में रहकर मुक्तक रूप में 'रासो' की रचना की थी । उनके मत से 'रासो' प्रबंधकाव्य नहीं था–अन्य कोई विद्वान् सहमत नहीं हैं ।

वस्तुत: आरंभ में यह ग्रंथ विवादास्पद नहीं था । कर्नल टॉउ ने इसकी वर्णन–शैली तथा काव्य सौंदर्य पर रीझकर इसके लगभग 30 हजार छन्दों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था । तासी भी इसकी प्रामाणिकता में संदेह नहीं करते थे । बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने इस ग्रंथ का मुद्रण भी आरंभ कराया था । सन् 1875 ई० में डॉ० बूलर ने पृथ्वीराज विजय' ग्रंथ के आधार पर इसे अप्रामाणिक रचना घोषित किया । फलस्वरूप राजस्थान के कुछ इतिवृत्त–खोजियों–कविराजा मुरारिदास, श्यामलदान गौरी शंकर हीराचंद ओझा आदि ने इस काव्य को अप्रामाणिक सिद्ध के लिए सायास तर्क जुटाए । इन विद्वानों के तर्कों को डॉ० दशरथ शर्मा ने निराधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया । वस्तुत: यह विवाद इतना उलझ गया कि अब तक कुछ विद्वान इसे अप्रामाणिक कृति सिद्ध करने में डटे हुए हैं ।

अप्रामाणिकता के लिए तर्क ये हैं :–

1. 'रासो' में उल्लिखित घटनाएँ और नाम इतिहास से मेल नहीं खातीं । इसमें मार, चालुक्य और चौहान क्षत्रियों को अग्निवंशी माना गया है, जबकि वे सूर्यवंशी प्रमाणित हुए हैं ।
2. पृथ्वीराज का दिल्ली गोढ़ जाना, संयोगिता स्वयंवर आदि घटनाएँ इतिहास से मेल नहीं खातीं ।
3. अनंगपाल, पृथ्वीराज तथा बीसलदेव के राज्यों के संदर्भ भी अशुद्ध हैं ।
4. पृथ्वीराज की माँ का नाम कर्पूरी था, जो 'रासो' में कमला बताया गया है ।
5. पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह मेवाड़ के राणा समरसिंह के साथ बताया गया है, जो अशुद्ध है ।
6. पृथ्वीराज द्वारा गुजरात के राजा भीमसिंह का वध भी इतिहास सम्मत नहीं है ।
7. 'रासो' में पृथ्वीराज के चौदह विवाहों का वर्णन है, जो इतिहास से मेल नहीं खाता ।
8. पृथ्वीराज के हाथों गोरी की मृत्यु की सूचना भी इतिहास सम्मत नहीं है ।
9. पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध भी इतिहास सम्मत नहीं है ।
10. 'रासो' में दी गई तिथियाँ अशुद्ध हैं । सभी तिथियों में इतिहास की तिथियों से प्राय: 90-100 वर्षों का अंतर है ।

यदि उपर्युक्त तथ्यों को अंतिम प्रमाण मान लिया जाय तो 'पृथ्वीराजरासो' को अप्रमाणिक माना जा सकता है । परंतु दूसरे पक्ष के तर्क भी संबंध में विचारणीय हैं–

1. डॉ० दशरथ शर्मा का मत है कि इसका मूलरूप प्रक्षेपों में छिपा हुआ है । इधर जो लघुतम प्रतियाँ मिली है; उनमें इतिहास संबंधी अशुद्धियाँ नहीं हैं ।
2. घटनाओं में 90-100 वर्षों का जो अन्तर है, वह संवत् की भिन्नता के कारण है । मोहनालाल विष्णुलाल पंड्या ने 'अनन्दसंवत्' की कल्पना की है और उसके अनुसार तिथियाँ भी शुद्धसिद्ध होती हैं ।
3. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि 'पृथ्वीराज रासो' में बारहवीं शताब्दी की भाषा की संयुक्ताक्षरमयी अनुस्वारान्त प्रवृत्ति मिलती है, जिससे यह बारहवीं शताब्दी का ग्रंथ सिद्ध होता है ।
4. 'रासो' इतिहास ग्रंथ न होकर काव्य–रचना है, अत: इतिहास का सत्य खोजना और उसके न मिलने पर उसे अप्रामाणिक घोषित करना अनुचित है ।
5. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का यह मत है कि 'पृथ्वीराज रासो' की रचना शुक–शुकी –संवाद के रूप में हुई थी । अत: जिन सर्गों में यह शैली नहीं मिलती, उन्हें प्रक्षिप्त मानना चाहिए । यदि यह तर्क मानलिया जाय, तो वे ही अंश प्राय: प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं जिनमें इतिहास –विरुद्ध तथ्य हैं ।
6. जिन लोगों ने 'रासो' में अरबी–फारसी के शब्दों का प्रयोग देखकर उसे जाली ग्रंथ माना है, उनके विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि चन्द लाहौर का निवासी था । वहाँ उस समय मुसलमानों का प्रभाव आ चुका था, अत: उसकी भाषा में अरबी–फारसी के शब्दों का मिश्रण होना सहज है ।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रक्षिप्तांशों या इतिहास–विरोधी कथनों के आधार पर 'पृथ्वीराजरासो' को अप्रमाणिक मानना उचित नहीं है । चन्द ने पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओं का जैसा सजीव वर्णन किया है, उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि वह पृथ्वीराज का समकालीन कवि था, अत: रासो को अप्रमाणिक मानना उचित नहीं है । यदि इस विवाद में कोई सत्यांश झलकता भी है तो वह 'पृथ्वीराज रासो' में पर्याप्त प्रक्षिप्त अंशों का समावेश हुआ है ।

पर्याप्त विवाद और मतभेदों के बावजूद 'पृथ्वीराज रासो' काव्य घटनाओं का कोश है । अत: इसे 'महाभारत की तरह एक विशाल महाकाव्य माना जा सकता है । इस काव्य में दो रस प्रमुख हैं–शृंगार और वीररस । ये दोनों रस पृथ्वीराज चौहान

के चरित्र के दो पार्श्व उन्मुक्त करते हैं । वह जितना वीर है, उतना ही शृंगार प्रेमी भी है । कवि ने एक ओर तो युद्धों के वर्णन में वीरता और पराक्रम की अद्‌भूत सृष्टि की है, दूसरी ओर रूप सौंदर्य और प्रेम के भी सरस चित्र उतारे हैं । दोनों रासों के केन्द्र में नारी है । उसे पाने के लिए युद्ध होते हैं और पा लेने पर जीवन का विलास–पक्ष अपनी पूरी रमणीयता के साथ उभरता है । ध्यान देने की बात है कि प्रेम और वीरता के चित्रों में कवि ने कुछ नैतिक मर्यादाओं का निर्वाह किया है, जिनके कारण रस की सात्विकता सुरक्षित रही है ।

'पृथ्वीराज रासो' की भाषा के संबंध में भी विवाद रहा है । वस्तुत: यह काव्य पिंगल शैली में लिखा गया है जो ब्रजभाषा का वह रूप है जिसमें राजस्थानी बोलियों का मिश्रण है । कवि ने तत्कालीन प्रचलित सभी शब्दों का स्वतंत्रता से प्रयोग किया है, शब्द चयन रसानुकूल है । अत: वीर रस के चित्रण में प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द भी यत्र–तत्र मिल जाते हैं । जहाँ तक भाषा की शक्ति का प्रश्न है, कवि ने अभिधेय भाषा को भी पर्याप्त प्रभावशाली रूप दिया है । लाक्षणिक तथा ध्वन्यात्मक शब्दावली ने भी प्राय: भाषा सौदर्य की वृद्धि की है । अलंकारों का चन्दबरदायी ने सहज प्रयोग किया है । शायद ही किसी अलंकार को उन्होंने छोड़ा हो । लगभग अड़सठ प्रकार के छन्दों में लिखा गया यह महाकाव्य सभी दृष्टियों से आदिकाल की एक श्रेष्ठ कृति सिद्ध होता है । इसमें भाव, वस्तु और ध्वनि की सम्मिलित प्रभावान्वित के उदाहरण देखिए :

बज्जिय घोर निसांत रात चौहान चहूँ दिसि ।
सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र मंत्र तिसि ।
उट्ठि राज प्रथिराज बाग लग्ग मनहु वीर नट ।
कढ़त तेग मन बेग लगत मनहु बीजु झट्ट घट्ट ।।

नारी सौंदर्य का भी एक चित्र वर्णन देखिए :

मनहुँ कला ससिभान कला सोलह सो बन्निय ।
बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय ।
बिगसि कमल स्त्रिग भ्रमर नैनु खंजन म्रिग लुट्टिय ।
हीर कीर अरु बिम्ब मोती नस सिख अहिघुट्टिय ।
छत्रपति गयंद हरि हंस गति बिह बनाय संचै सचिय ।
पद्मिनी रूप पद्मावतिय मनहुँ काम कामिनि रचिय ।।

1.5.5 लौकिक साहित्य

आदिकालीन साहित्य में धार्मिक साहित्य और चरणों की प्रशस्तिपरक रचनाओं के अतिरिक्त एक भिन्न प्रकार के साहित्य की लोकधारा भी प्रवाहशील थी । साहित्य की यह लोकधारा ही वास्तविक अर्थ में देशभाषा काव्य थी जो हिन्दी साहित्य के विकास के मूल में हैं । चारण साहित्य को जब राजाश्रय मिला तब उसमें शास्त्रीय रूढ़ियों जैसे तत्व भर गए; ऐसे साहित्य में नूतनता का प्रादुर्भाव केवल लोकसाहित्य द्वारा संभव हो सकता था । लौकिक साहित्य ने जीवन की रची–बसी विषयवस्तु को अपने साहित्य का विषय बनाया, जिसमें जीवन के स्वाभाविक दशाओं का वर्णन है । लौकिक साहित्य के विभिन्न अंग केवल शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ही अध्ययन के विषय न होकर सांस्कृतिक तथा समाजशास्त्र की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं । हिन्दी साहित्य के आदिकाल में मुलतान, राजस्थान, दिल्ली, अवध और मिथिला से लौकिक साहित्य प्राप्त हुए हैं ।

- **संदेश रासक :**

'संदेश रासक' की रचना बारहवीं–तेरहवीं शताब्दी में हुइ थी । इसकी रचना अपभ्रंश भाषा में हुई थी, परंतु वह अपभ्रंश भाषा बोलचाल के अधिक नजदीक थी । कवि अब्दुल रहमाण प्राकृत और अपभ्रंश की परंपरा के अच्छे जानकर थे, फिर भी

` वे अपनी रचना को बोलचाल की भाषा के अधिक नजदीक रखने का प्रयत्न करते हैं । बोलचाल की भाषा से जुड़ी होने के कारण ही संदेश–रासक में लोक–संवेदना का सहज विस्तार मिल गया है । 'संदेशरासक' दूत काव्य है । इसमें मंगलाचरण, आत्म–परिचय, ग्रंथ लिखने के औचित्य, षड़ऋतु वर्णन तथा रूप वर्णन जैसी शास्त्रीय रूढ़ियों की कमी नहीं है, फिर भी उसमें नारी की करुणा का संदेश मार्मिक है । इस काव्य में लोक–जीवन के सघन चित्र प्राप्त होते हैं । इस काव्य की मूल संवेदना गहरे स्तर पर लोकानुभूतियों को स्पर्श करती है । इस काव्य में विरहिणी नायिका एक पथिक के माध्यम से अपनी विरहानुभूति का संदेश पति तक पहुँचाना चाहती है । नायिका के विरह में प्रकृति का पूर्ण सहयोग है । प्रकृति वर्णन में कवि की दृष्टि जहाँ ग्राम्य जीवन की ओर गई है, वे स्थल काव्य में बड़े मार्मिक हो गये हैं । काव्य में प्रकृति का बाह्य वर्णन प्राकृतिक वर्णन मात्र न होकर विरहिणी नायिका के हृदय का चित्र हो गया है ।

- **ढोला मारू रा दूहा :**

'ढोला मारू रा दूहा' की रचना ग्यारहवीं शताब्दी में पश्चिमी राजस्थान में हुई थी । कुशललाभ ने कृति में कुछ चौपाइयों को जोड़कर काव्य–कृति को सुगठित आधार दिया । यह रचना लोककथा के आधार पर की गई थी । इस काव्यकृति में कथानक इस प्रकार बुना गया है कि कथा का मुख्य सूत्रधार राजकुमार ढोला ही प्रतीत होता है । उसका प्रथम विवाह मारवणी से होता है और दूसरी लड़की पालवणी से प्रेम करता है । मारवणी विरह वेदना से त्रस्त है । अपनी आंतरिक वेदना का संदेश राजकुमार ढोला तक पहुँचाना चाहती है । मारवणी के संदेश में उसके हृदय की तीव्र अनुभूति व्यक्त होती है । वस्तुत: यह काव्य पुरुष की स्वेच्छाचारिता को उद्‌घाटित करता है और उसके साथ ही नारी जीवन की पराधीनता और विवशता की ओर भी ध्यान आकृष्ट करता है । चूँकि 'ढोला मारु रा दूहा' लोककथा है, इसलिए इसमें लोकजीवन और प्रकृति के आत्मीय रिश्तों को भी रेखांकित किया गया है । इस काव्य में नारी जीवन की आशाएँ, स्मृतियाँ तथा चिंताएँ ऋतु की संवेदनाओं के साथ जुड़ जाती हैं । मारवणी के वियोग में प्रकृति पूर्ण सहयोगी बनकर उपस्थित होती है ।

- **जयचन्द–प्रकाश और जयमयंक –जसचन्द्रिका :**

इन कृतियों का उल्लेख 'राठौड़ों री ख्यात' में मिलता है किन्तु अभी तक ये उपलब्ध नहीं हुई हैं । कहा जाता है कि प्रथम कृति की रचना भट्टकेदार नामक कवि ने की थी । रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार यह एक महाकाव्य था, ''जिसमें महाराज जयचंद के प्रताप और पराक्रम का वर्णन था ।'' इस प्रकार दूसरी कृति की रचना 1986 ई० में मधुकर कवि ने की थी । ये दोनों ही ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं । किन्तु 'राठौड़ाँ री ख्यात में यह उल्लेख मिलता है कि दयालदास ने इन्हीं ग्रंथों के आधार पर कनौज तक का वृतान्त लिखा था । अत: इन कृतियों की रचना तो अवश्य हुई होगी, किंतु ये सुरक्षित नहीं रह सकीं ।

- **वसन्त–विलास :**

माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में, ''यह एक अत्यधिक सरस साहित्यिक कृति है और आधुनिक भारतीय आर्य–भाषा साहित्य के आदिकाल के इतिहास में बेजोड़ है ।'' यह रचना सर्वप्रथम 1952 ई० में 'हाजी मुहम्मद स्मारक ग्रंथ में प्रकाशित हुई थी । श्री केशवलाल हर्षाढराय इसके प्रथम संपादक थे । उन्होंने 1451 ई० की एक हस्तलिपिक प्रति के आधार पर इसका संपादन किया था । इससे इस कृति की रचना –काल 1451 ई० के पूर्व होना चाहिए । डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने विभिन्न प्रमाण देकर यह मत निर्धारित किया है कि ''यह रचना अधिक–से–अधिक विक्रमीय चौदहवीं शती के मध्य ईस्वी तेरहवीं शती–की होनी चाहिए ।

इस कृति के रचयिता का पता नहीं चल सका है । इसमें चौरासी दोहों में वसंत और स्त्रियों पर उनके विलासपूर्ण प्रभाव का मनोहारी चित्रण किया गया है । इस काव्य में प्रकृति और नारी दोनों का महोन्मत स्वरूप शृंगार रस की तीव्र धारा प्रवाहित करता है । इस कृति में आदिकाल के जनजीवन का वह सरस पक्ष उभरता है, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शायद तलवारों की झनझनाहट के आधिक्य के कारण नहीं सुन पाये थे । स्त्री पुरुष–प्रकृति–तीनों में अजस्र बहती मदोन्मत्तता का इस काव्य में जैसा

चित्रण मिलता है, वैसा रीतिकालीन हिन्दी–कवि भी नहीं कर सके । इस काव्य की भाषा से ही पिंगल सरस ब्रजभाषा का रूप लेती प्रतीत होती है ।

- **गद्यरचनाएँ :**

आदिकालीन हिन्दी साहित्य में देश के विविध भागों में विविध प्रकार की गद्य रचनाएँ भी हो रही थीं । गद्य रचना में जीवन और समाज की वास्तविकता को प्रकट करने की शक्ति होती है । आदिकाल में जितने प्रकार की गद्य रचनाएँ मिलती हैं, उनमें कहीं न कहीं तत्कालीन जीवन की यथार्थताओं का वर्णन है । इस युग की रचनाओं में रोड़ा कृत 'राउलवेल (10 वीं शताब्दी) दामोदर भट्ट रचित 'उक्ति–व्यक्ति प्रकरण' (12वीं शताब्दी), ज्योतिरीश्वर ठाकुर की कृति 'वर्णरत्नाकर' (14वीं शताब्दी) आदि हैं ।

- **राउलवेल :**

यह गद्य–पद्य –मिश्रित चम्पू–काव्य की प्राचीनतम हिन्दी कृति है । आरंभ में कवि ने पद्य का प्रयोग किया और फिर गद्य का । इस कृति के रचयिता रोड़ा नामक कवि माना जाता है । 'राउरवेल' से हिन्दी में नखशिख–वर्णन श्रृंगार परंपरा का आरंभ होता है । इसकी भाषा में हिन्दी की सात बोलियों के शब्द मिलते हैं, जिनमें राजस्थानी प्रमुख हैं । कवि ने विषय वर्णन बड़ी तन्मयता के साथ किया । उसने अपना, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग करके रूप वर्णन को प्रभावशाली बना दिया है ।

- **उक्ति–व्यक्ति–प्रकरण :**

महाराज गोविन्दचन्द्र के सभा–पण्डित दामोदर शर्मा ने बारहवीं शताब्दी में इस पुस्तक की रचना की थी । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, ''उक्ति –व्यक्ति –प्रकरण' एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्याकरण –ग्रन्थ है । इससे बनारस और आसपास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और उस युग के काव्य रूपों के संबध में भी थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त होती है ।'' डॉ० मोतीचन्द भी इस मत का समर्थन करते हैं । इस ग्रंथ की भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है : ''वेद पढ़ब, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब ।'' इससे गद्य और पद्य दोनों शैलियों की हिन्दी भाषा में तत्सम् शब्दावली के प्रयोग की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का पता चलता है ।

- **वर्णरत्नाकर :**

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और पंडित बबुआ मिश्र के संपादन में मैथिली हिन्दी में रचित यह गद्य की पुस्तक बंगाल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित हो चुकी है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार इसका रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी रही होगी । इसके लेखक मैथिल कवि ज्योतिरीश्वर ठाकुर हैं । इसकी भाषा में कवित्व आलंकारिकता तथा शब्दों की तत्समता मिलती हैं । यह एक शब्द–कोश –सा प्रतीत होता है । हिन्दी गद्य के विकास में 'राउलवेल' के पश्चात् 'वर्णरत्नाकर' का योगदान महत्त्वपूर्ण है । निश्चय ही इन कृतियों के अतिरिक्त अन्य गद्य–रचनाएँ लिखी गई होंगी, परंतु विभिन्न कारणों से अब वे उपलब्ध नहीं हैं । फिर भी, ये कृतियाँ गद्य–धारा के प्रवाह की अखण्डता तो सिद्ध करती ही हैं ।

1.6 आदिकाल के प्रमुख रचनाकार

1.6.1 अमीर खुसरो

अमीर खुसरो बहुमुखी प्रतिभा के घनी थे । उन्हें विविध विधाओं में निपुणता हासिल थी । इतिहास, कविता, संगीत आदि विविध विषयों पर उन्होंने लेखनी चलाई । वे कई भाषाएँ जानते थे । फारसी, उर्दू, ब्रजभाषा, खड़ीबोली तथा कई अन्य भाषाओं में वे लिख सकते थे । खुसरो मिलनसार तथा खुशमिजाज आदमी थे । उन्होंने जनता में प्रचलित पद्य, पहेलियों तथा मुकरियों को अपनाया । उनके दोहे तथा पहेलियों में एक खास प्रकार की तुकबंदी है । कहीं–कहीं उन्होंने फारसी और ब्रजभाषा की

संगीतात्मक ध्वनि को एक साथ पिरो दिया । दो भिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के छंद को एक-साथ मिलाने का असाधारण कार्य उन्होंने किया है ।

जे हाल मिसकी मकुन तगाफूल दुराय नैना बनाय बतियाँ ।

कि ताबे हिजाँ न घरम ए जाँ ! न लेहु काहें लगाय छतियों ।

शबाने हिजाँ दराज चूँ जुल्फ व रोजे वसलत चूँ उम्र को तह ।

रूखी ! पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ ।।

खुसरो के काव्य में सामान्य मानव की सहजता है । अमीर खुसरो दरबार के फारसी पांडित्य से अलग लोकभाषा में जनता की अनुभूति को अभिव्यक्त करते हैं । उन्होंने जनता की भाषा को अपना बनाया था, इसलिए जनता भी उन्हें आजतक नहीं भूली है । मध्यदेश की भाषा खड़ीबोली और ब्रजभाषा के विकास को समझने में खुसरो की रचनाओं से काफी मदद मिलती है । रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि काव्यभाषा का ढाँचा अधिकतर शौरसेनी या पुरानी ब्रजभाषा का ही था, जो बहुत काल से चला आ रहा था । अत: जिन पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ीबोली होती थी, उनमें भी जनता के बीच प्रचलित पद्यों, तुकबंदियों आदि की भाषा ब्रजभाषा की ओर झुकी रहती थी । अब भी यह बात पायी जाती है । इसी से खुसरो की हिन्दी रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती हैं । ठेठ खड़ी बोली बोलचाल की भाषा पहेलियों, मुकरियों और दो सुखनों में ही मिलती है । यद्यपि उनमें भी कहीं कहीं ब्रजभाषा की झलक है । पर गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुख प्रचलित काव्यभाषा ही है । मध्यदेश के जनमानस में प्रचलित भाषा और जनता की सोच को जानने के लिए आदिकालीन हिन्दी साहित्य में खुसरो का महत्व अतुलनीय है ।

1.6.2 विद्यापति

विद्यापति का रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी है । उस काल की देशभाषा को अपभ्रंश में मिलाकर रचने की प्रवृत्ति प्रचलित थी । विद्यापति ने भी इन रूढ़ियों का पालन किया, परंतु उनके काव्य में देशभाषा का स्वतंत्र विकास भी देखने को मिलता है । अपभ्रंश मिश्रित लोकभाषा जिसे विद्यापति ने अवहट्ठ कहा है तथा मिथिलांचल प्रदेश में प्रचलित लोकभाषा मैथिली दोनों ही भाषाओं में विद्यापति ने रचना की । विद्यापति की स्पष्ट मान्यता थी-

देसिल बअना सब जनमिट्ठा । ते तैंसन जपऊँ अवहट्ठा ।

अर्थात् देशी भाषा सबको मीठी लगती है, इससे वैसा ही अपभ्रंश में कहता हूँ । विद्यापति दो भाषाओं को स्वीकार करते हुए भी देशभाषा को प्रमुख मानते हैं । परंतु राजाश्रित कवि होने के कारण दरबार की भाषा अपभ्रंश थी, और इससी उन्होंने कीर्तिलता और कीर्तिपताका अपभ्रंश या अवहट्ठ में लिखा । विद्यापति की भाषा में लोक-अनुभूति का आधार इतना गहरा था कि उससे उनकी अवहट्ठ रचनाएँ भी प्रभावित हुईं । उस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि उसमें देशभाषा का कुछ अधिक प्रभाव है । यह अपभ्रंश भाषा प्राकृत की रूढ़ियों से बंधी हुई प्रतीत नहीं होती । वस्तुत: विद्यापति के सामने कविता की दो धाराएँ थीं, एक प्राचीन मैथिली की और दूसरी उत्तरकालीन अवहट्ठ की । विद्यापति ने दोनों प्रकार की भाषाओं को मिलाकर एक नई शैली की उद्‌भावना की ।

विद्यापति के शृंगार वर्णन की बहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने अपने शृंगार वर्णन को सामंती शृंगार के सौंदर्य के उपभोग पक्ष से अलग रखा है । उनके शृंगारिक मनोभाव में लोकजीवन की सहजता है । उनके काव्य में किशोर और किशोरियों के प्रेम का सहज आकर्षण है, नवयौवन की चंचलता है और भावों की ऊहापोह है ।

मिथिला में विद्यापति ने जिस तान को छोड़ा उसका प्रभाव मिथिला में ही सीमित न होकर असम, बंगाल, ओड़िशा तक जा पहुँचा । वस्तुत: मिथिला पूर्वी संस्कृति का केन्द्र था । मिथिला में गीतिकाव्य और दर्शन की दो धाराएँ एक साथ प्रवाहित हो रही थीं । विद्यापति का संबंध इन दो धाराओं से था । पूरव के लोग मिथिला में पढ़ने-लिखने और कार्य करने आते थे । जब वे

लौटते तो अपने साथ मिथिला के गीत और भजन भी ले जाते थे । इसी तरह से विद्यापति की कविताओं का प्रसार असम, बंगाल और ओड़िशा में हुआ । मैथिली कोकिल की लयात्मक चेतना और गीतात्मक संवेदना से संपूर्ण पूर्वी भारत आनंदित हो उठा । एक उदाहरण–

नंदक नंदन कदम्बक तरु तरे

धीरे–धीरे मुरली बजाय

समय संकेत निकेतन वैसल

बेरि–बेरि बोलि पठाव ।

1.7 सारांश

आदिकाल में हिन्दी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश के साथ–साथ चलती हुई क्रमश: जनभाषा के रूप में साहित्यिक रचना का माध्यम बन रही थी । कभी अपभ्रंश के नाम पर हिन्दी का आरंभिक साहित्य छोड़ दिया गया और कभी पुरानी हिन्दी के नाम पर अपभ्रंश का परवर्ती साहित्य भी हिन्दी साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया है । परंतु नयी खोजों से यह धारणा स्पष्ट हो चुकी है कि जनभाषा के रूप में हिन्दी आठवीं शताब्दी में ही साहित्य का माध्यम बन चुकी थी तथा वह अपभ्रंश भाषा के साथ अपनी भूमि पर आगे भी बढ़ने लगी थी । फलस्वरूप अपभ्रंश में साहित्य लिखनेवाले कवि अवसर पाकर हिन्दी में भी कविता करते थे । दोनों भाषाओं में यह स्पर्धा भक्तिकाल के आरंभ तक चलती रही और अंत में एक दिन ऐसा भी आया जब अपभ्रंश को छोड़कर सभी कवि हिन्दी के मार्गपर चलने लगे । आदिकालीन साहित्य में प्रयुक्त हिन्दी की यह बहुत बड़ी शक्ति है, जो उसकी संप्रेषण –क्षमता की सूचना देती है । एक विशाल क्षेत्र की अनेक बोलियों से उसका एक सामान्य रूप विकसित हो रहा था । अदिकालीन साहित्यिक भाषा भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियों में रमते हुए भी सभी हिन्दी कवियों की प्रतिभा एकत्व का आभास दे रही थी । अनजाने में ही उन सबका एक ऐसा प्रयोग चल रहा था, जिसके फलस्वरूप समस्त हिन्दी क्षेत्र की बोलियाँ अपनी सांस्कृतिक एकता की स्थापना कर सकें । सम्भवत: इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कविगण संस्कृत से तत्सम शब्द लेकर अपनी भाषा में प्रयुक्त करने लगे थे । फलस्वरूप पन्द्रहवीं शताब्दी का अंत होते–होते हिन्दी का वह रूप उभरा जो समस्त देश की सांस्कृतिक भाषा बन गयी । तत्कालीन जीवन की भावभूमि का साथ देनेवाली शब्दावली सरल रूप में भी सशक्त होती जा रही थी । आदिकालीन साहित्य की भाषा एक ओर रूप भेद होने पर भी अभेद है, दूसरी ओर संप्रेषण क्षमता में भी वह बेजोड़ है । आदिकालीन कवियों का रूपात्मक एकता का प्रयोग, जो पन्द्रहवीं शताब्दी तक पहुँचते पहुँचते पूर्ण सफल हो चुका था, इतिहास से मिटाया नहीं जा सकता ।

1.8 अभ्यास प्रश्न :

1. अदिकाल की प्रवृत्तियों का विस्तार में वर्णन कीजिए ।
2. आदिकालीन लौकिक साहित्य पर एक निबंध लिखिए ।
3. 'पृथ्वीराज रासो' का संक्षिप्त परिचय देते हुए, उसकी प्रामाणिकता सिद्ध कीजिए ।
4. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (क) अमीर खुसरो

   (ख) मैथिलकोकिल

   (ग) सधुक्कड़ी भाषा

   (घ) संध्या भाषा

●●●

5. आदिकाल की अवधि कितनी थी?
6. आदिकाल में कौन-कौन सी साहित्यिक रचनाएँ हुईं?
7. आदिकाल की भाषा कैसी थी?
8. आदिकाल का समय किस प्रकार का था?

दीर्घ उत्तरमूलक प्रश्न

1. आदिकाल क्या था और इसकी मुख्य विशेषताएं क्या थीं? इस काल की साहित्यिक और सांस्कृतिक धाराओं में क्या विशेषताएं थीं?
2. आदिकाल की सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करें।
3. आदिकाल में भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों और समुदायों के बीच साहित्यिक और सांस्कृतिक आदर्शों की परंपरा कैसे व्यक्त हुई?
4. आदिकाल के किसी एक क्षेत्र या समुदाय के उदाहरण के माध्यम से, इस समय के साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास को समझाएं।

संदर्भ ग्रंथसूची

- हिंदी साहित्य का आदिकाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 2008.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.
- हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-2015.
- हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2006.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेंद्र, मयूर पेपरबैक्स, नोएड़ा-2004.
- हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.
- हिंदी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2006.
- हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ. जयकिशन खण्डेलवाल, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा- 2006.

UNIT–II

भक्तिकाल का उदय और विकास

इकाई की रूपरेखा

2.1.0 उद्देश्य

2.1.1 प्रस्तावना

2.1.2 भक्तिकाल की पृष्ठभूमि

2.1.2.1 राजनैतिक परिस्थिति

2.1.2.2 सामाजिक और अर्थिक परिस्थिति

2.1.2.3 धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थिति

2.1.3 दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन का सूत्रपात

2.1.4 भक्तिकाल का उदय

2.1.5 भक्ति आंदोलन का अखिल भारतीय स्वरूप

2.1.6 सारांश

2.1.7 अभ्यास प्रश्न

2.1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भक्तिकाल की समयसीमा से परिचित होंगे
- भक्तिकाल की राजनीतिक पृष्ठभूमि को जान सकेंगे
- भक्तिकाल की सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति को समझ सकेंगे
- भक्तिकाल की जाति व्यवस्था पर चर्चा कर सकेंगे
- भक्तिकाल की धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ समझ सकेंगे
- भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास से परिचित हो सकेंगे
- दक्षिण भारत में भक्ति–आंदोलन के उदय के कारण और भक्ति आंदोलन के अखिल भारतीय स्वरूप का विश्लेषण कर सकेंगे
- भक्तिकाल की प्रेरणा और प्रवृत्तियों से परिचित होंगे
- भक्तिकाल की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे

2.1.1 प्रस्तावना :

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का उद्‌गम लगभग चौदहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक प्रचलित भारतीय भक्ति आंदोलन से हुआ है । रामचन्द्र शुक्ल ने इसका समय 1318-1643 ईस्वी माना है । कई अन्य इतिहासकारों ने भी इसे स्वीकार किया है ।

2.1.2 भक्तिकाल की पृष्ठभूमि :

भारतीय जीवन चिरकाल से धर्म के सात ओतप्रोत भाव से जड़ित रहा है । धर्म के क्षेत्र में बार–बार आन्दोलन होते रहे । आर्य सभ्यता के प्रतिष्ठित होने के पूर्व इस देश की एक स्वतंत्र धर्म साधना थी । मोहेञ्जोदाड़ो और हरप्पा की सभ्यता में धर्म का स्वतंत्र रूप था । उस पीठिका पर आर्यों ने यहाँ वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की । उसमें ज्ञान, दर्शन, कर्मकांड और उपासना सबकुछ शामिल थे । पशुबलि और बाह्याचारों से आच्छन्न हो जाने पर इस धर्म का विरोध महाबीर जैन और बुद्धदेव ने किया था । वैदिक धर्म–धारा के साथ–साथ पश्चिम भारत में जैन धर्म का और मध्य तथा पूर्वभारत में बौद्ध धर्म का खूब प्रचार हुआ । ये धर्म दक्षिण भारत में भी पहुँचे जहाँ पहले से शैव धर्म का अभ्युदय हुआ । आलवार संतों ने निरंतर इसकी साधना की ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी में दक्षिर के वैष्णव आचार्यों ने इस भक्ति–साधना को भारतीय रूप प्रदान किया । आठवीं–नवीं शताब्दी में शंकराचार्य के आविर्भाव से वैदिक और शैव मतों का प्राधान्य बढ़ा । बौद्ध प्राय: समाप्त हो गए । फिर रामानुज, निम्बार्क, मध्य और विष्णुस्वामी द्वारा चार संप्रदायों की स्थापना हुई । लगभग बारहवीं शताब्दी से दक्षिर से भक्ति आंदोलन की लहरें उत्तर भारत को प्रभावित करने लगीं । सभी संप्रदायों के भक्त उत्तरभारत में आते गए । वाराणसी, अयोध्या और वृन्दावन धर्म के नए केन्द्र बन् गए । इस दौर में महाराष्ट्र के संतों ने बड़ा योगदान दिया । ओड़िशा में पुरी के जगन्नाथ का आश्रय लेकर जयदेव आदि ने भक्ति–रस की धारा बहायी । इस प्रकार समग्र देश बारहवीं सदी से भक्ति की धारा में डूबने लगा । हिन्दी में भक्तिकाल का आरंभ चौदहवीं शती से हुआ । इस काल की पृष्ठभूमि इस प्रकार है :

2.1.2.1 राजनैतिक परिस्थिति :

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल का समय विदेशी मुसलमानों के शासन काल ही है । खासकर तुगलक वंश से लेकर मुगल बादशाह शाहजहाँ के शासनकाल तक इसका विस्तार है । दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमोत्तर मार्ग से तुर्कों का भारत पर आक्रमण शुरु हुआ । इस देश के देशी राजा आपस में स्वार्थ के लिए लड़ रहे थे । परस्पर फूट और शत्रुता के कारण पृथ्वीराज

चौहाण मुहम्मद गोरी के हाथों मारा गया । फिर कुतबुद्दीन ऐबक ने जयचंद की हत्या कर दी । तुर्की ने दिल्ली में अपनी सल्तनत जमायी । गोरी का गुलाम कुतबुद्दीन 1206 ई० में दिल्ली में सुलतान बना । अब भारत में स्वतंत्र राजसत्ता कायम हुई । 1206-1290 ई० तक दिल्ली सल्तनत विदेशी आक्रमण, आतंरिक कलह, राजपूतों और देशी शासकों द्वारा परेशान रही । फिर भी उसकी सीमा मालवा से गुजरात तक और सुदूर दक्षिण तक फैल गयी ।

1281 ई० में बलवन की मौत हुई तो जलालुद्दीन खिलजी ने गद्दी पर कब्जा कर लिया । उसने सहिष्णुता और सरल दंडविधान द्वारा प्रजा की लोकप्रियता प्राप्त की । लेकिन अल्लाउदीन खिलजी ने नीति को बदल दिया और कठोर दंड देता गया । प्रजा दु:खी हुई ।

खिलजी वंश के बाद तुगलक वंश का राज चला । इस वंश में तीन शासक हुए । गयासुद्दीन, मुहम्मद और फिरोज तुगलक । यद्यपि तुगलोकों का शासन 1412 ई० तक चलता रहा, लेकिन 1398 ईस्वी में दिल्ली पर तैमूल का जो हमला हुआ, उससे उसकी जड़ें हिल गयी । फिर भी यह सच है कि उन शासकों ने भारत पर कब्जा कर अधिकांश राज्यों को अपने अधीन किया । विस्तार की नीति से एक केन्द्रीय सत्ता की स्थापना हो गयी ।

तैमूर के आक्रमण के बाद मुहम्मद तुगलक दिल्ली से भाग खड़ा हुआ । अनेक शासकों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया । इस बीच तुर्की सुल्तानों ने कुछ हद तक शासन को संभाले रखा । सैयद वंश और फिर अफगान सरदार वहलोल लोदी का राज चला । उसने रशकियों को पराजित किया । इस वंश के सिकंदर लोदी (1489-1517 ई०) तक अच्छा शासन किया । उसने आगरा में राजधानी बनाई । उसके बाद इब्राहिम लोदी गद्दीपर बैठा । उसने राज्यलोभ के कारण अफगान और राजपूत दोनों को दुश्मन बना दिया । इसलिए दौलत खाँ लोदी और राणासोंगा के बुलावे पर मुगल सरदार बाबर ने भारत पर आक्रमण किया । उसने बारी-बारी से 1526 को लोदी को मार डाला । 1527 ई० को राणासांगा को पराजित करके हत्या कर दी । बाबर ने कई लड़ाइयों में अपने शासन-क्षेत्र का विस्तार किया और मुगल साम्राज्य की नींव रखी ।

मुगलों का शासनकाल भारत के इतिहास में काफी महत्वपूर्ण समय रहा । बाबर के बाद उसके पुत्र हुमायूँ 1530 ई० में मुगल साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना । उसने भी कई युद्धों में सफलता पाई । लेकिन शेर खाँ ने शेरशाह बनकर उसे भगा दिया । पाँच साल बाद वह सौभाग्य से लौटा और फिर राजगद्दी पर बैठा । शेरशाह ने कुशल प्रशासन दिया । जमीन का बन्दोवस्त कराया । व्यापार को बढ़ाया । हुमायूँ ने एक साल शासन किया नहीं कि उसका निधन हो गया । उसका पुत्र अकबर 13 वर्ष की छोटी उम्र में ही 1556 ई० को बादशाह बना । उसे एक कुशल अभिभावक के रूप में बैराम खाँ का संरक्षण मिला । अकबर ने आगे चलकर लगभग पूरे हिन्दुस्तान को अपने साम्राज्य के अधीन कर लिया । उसकी नीतियाँ उदार, धर्मनिरपेक्ष और सांस्कृतिक एकता को प्रोत्साहन देनेवाली थीं । सच में यह देश की प्रगति और विकास का काल था । देश में अमन चैन छा गया । राणाप्रताप के साथ अकबर का युद्ध भारतीय वीरों का आदर्श था । जहाँगीर (1605-1627) और शाहजहाँ (1628-1658) का शासन भी कुशल और शांतिपूर्ण रहा । इस समय साम्राज्य की सीमाएँ बढ़ीं । प्रशासनिक व्यवस्था सुदृढ़ हुईं । लोग आश्वस्त हुए । शाहजहाँ के अंतिम दिनों तक हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल भी समाप्त हो गया था ।

2.1.2.2 सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति :

इस देश में तुर्की की सल्तनत कायम हो गयी तो उसके साथ प्रशासन की व्यवस्था भी आई । केन्द्र में एक मजबूत सत्ता रहने से पूरा उत्तर-भारत का शासन चुस्त और दुरुस्त हुआ । साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ यह दक्षिण भारत और पूर्व में बंगाल तक फैलता गया । तुर्की ने केन्द्रीय और स्थानीय दोनों प्रकार के शासन में अधिकार बाँट दिए । अनेक अधिकारी नियुक्त हुए । सूबे या शिक में शासन बाँटा गया । उनके अधीन परगने होते थे । गाँव में खुत, मुकद्दम, पटवारी रहते थे । उन्हीं के मातहत भूराजस्व वसूला जाता था । इस तरह राजधानी से गाँव तक शासन-व्यवस्था मुस्तैद रहने से सबकी सुविधा हुई । आगे चलकर थोड़ा-बहुत परिवर्तन के साथ यही शासन चलता गया ।

दिल्ली देश की राजधानी बनी । तब दिल्ली, आगरा, बनारस, इलाहावाद और पटना अदि शहर बसने लगे । उनकी आबादी बढ़ती गई । शहरों के साथ छोटे–छोटे कस्बे भी बस गए । सबके बीच व्यापार का संबंध स्थापित होने लगा ।

तुर्की के साथ नई तकनीक भी आई । चरखा, धुनकी, रहट, कागज, चुबंकीय कुतुबनुमा, समय–सूचक उपकरण, घुड़सवार सेना और प्रौद्योगिकी का उपयोग होने लगा । इससे उद्योग के क्षेत्र में नई जान आयी । व्यापार भी बढ़ा । तुर्क शासन काल में वस्त्रों की बुनाई हुई । रेशम वस्त्र के चमकीले रंग आकर्षक लगे । मुहम्मद तुगलक के कारखानों में 4000 रेशम कर्मी थे ।

इसकाल में बड़े पैमाने पर सड़कें भी बनीं । शेरशाह ने तो पेशावार से मुशिंदाबाद तक राजमार्ग बनवाया था और भी सड़कें बनावाई थीं । जगह–जगह सरायघर भी बनवाये । मुगलों ने इस कार्य को आगे बढ़ाया । अनेक किले और महल बनवाये गए । राजमिस्त्री और पत्थर के कारीगरों को खूब रोजगार मिले । कुल मिलाकर शिल्प और उद्योग का बड़ा उत्थान हुआ । बंदरगाहों से होकर माल विदेश जाने लगा । व्यवसाय में प्रगति हुई । भारत से चीनी, चावल, वस्त्र आदि पदार्थ दक्षिण पूर्व में और पश्चिम एशिया में, यहाँ तक की यूरोप में भेजे जाने लगे । इससे आर्थिक संपन्नता आने लगी । लेकिन इस अर्थ–व्यवस्था के भीतर एक सामंती समाज उभरने लगा । ये लोग अधिक संपन्न और शक्तिशाली हुए । कई शासक व्यापार करने लगे । कुछ लोग अपने अधिकार का उपयोग करके समृद्ध हो गए । भूराजस्व की सामंती व्यवस्था द्वारा पूँजीवाद को भी बढ़ावा मिला । अतएव सुशासन की प्रतिष्ठा में भी नगरों में बड़ी संख्या में लोग गरीब थे और मुस्किल से अपना गुजारा कर पाते थे ।

गाँव में खेती और उससे संबंधित उद्योग में लोग लगे रहते थे । पेट भर की कमाई भी न हो पाती थी । अकाल में महामारी उनके साथ थे । किसान विद्रोह करते तो उनको नृशंसता से कुचल दिया जाता था । जमींदार और व्यापारी वर्ग शासकों की मददगार बने रहे । तुलसीदास ने जनता की इस दु:ख दर्द के मार्मिक चित्र दिये हैं ।

कलि बारहिं बार दुकाल परै

बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ।

उन्होंने जनता की विवशता का सच्चा वर्णन इन शब्दों में किया है–

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,

बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी ।

जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोचबस

कहैं एक एकन सों कहाँ जाई का करी ।

जमींदार किसानों का शोषण करते थे । अधिकतर लोग भूमिहीन थे । छोटे–मोटे काम करनेवाले, दस्तकारों निचली श्रेणी के श्रमिक बहुत कम उपार्जन कर पाते थे । इसलिए दरिद्रता अभिशाप की भाँति साधारण जनता को खाई जाती थी–

नहिं दरिद्र समं दुख जग माहीं ।

जाति व्यवस्था :

वर्णाश्रम धर्म इस देश का पुराना सामाजिक ढाँचा रहा है । यह गुण और कर्म के आधार पर बना था । हिन्दू धर्म को कर्मकाण्ड ने बाँध रखा था । ब्राह्मणों को समाज में सबसे ऊँचा स्थान मिला हुआ था । अत्याचार का दमन और न्याय तथा दण्डव्यवस्था के संचालन में क्षत्रिय नियुक्त थे । इसलिए समाज में उनका भी दबदबा बना रहा । मध्यकाल में इनका महत्व और बढ़ा क्योंकि युद्ध विग्रहों में इनकी भूमिका अहम होती थी । अपने राजा, राज्य के लिए अपनी कुर्बानी देते थे । ऐसे वीरों का सम्मान होता था । वणिकों में ऊँच–नीच पेशे के मुताबिक व्यक्ति छोटा–बड़ा हो सकता था । एक शूद्र जाति थी जो सबकी सेवा करती थी । उनमें से कुछ अछूत समझे जाते थे । इनकी अवस्था दयनीय ही थी । मुस्लिम समाज भी नस्ल और जातिभेद

से ग्रस्त था । तुर्की, ईरानी, अफगान और भारतीय मुसलमान अलग–अलग वर्गों में बँटे हुए थे । हिन्दू और मुसलमानों में शासक–शासित भेदभाव के कारण मेल–मिलाप नहीं था । दोनों की धार्मिक परंपरा भी अलग थी और अक्सर विरोधाभास से ग्रस्त थी । फिर भी एक साथ रहने के मजबूरी से सामाजिक संपर्क बढ़ रहा था । भक्ति का संदेश सबको बराबर समझने में मदद करता था ।

जाति पाँति पूछै नहिं कोई

हरि को भजै सो हरि का होई ।।

धार्मिक संस्कार लाने के उद्देश्य से प्रयत्न हो रहे थे । एक तरफ कबीर जैसे कठोर सुधारवादी उग्रता से जातिवाद पर प्रहार कर रहे थे–

तु अगर बाभन बाभनी जाया ।

तो आन बाट होई काहै न आया ।।

इस प्रकार का विरोध पहले सिद्धों और नाथों ने भी किया था । वह परंपरा अब भी चल रही थी । लेकिन कबीर सच्चे ब्राह्मण और वैष्णव को गोपाल के समान आदर देने की बात भी करते हैं ।

फिर भी भक्ति आंदोलन ने जातिभेद, सामाजिक भेदभाव, कट्टरता और रक्षणशीलता को कम किया । गोस्वामी तुलसीदास, जैसे शास्त्रविहित मार्ग पर चलनेवाले भक्त वर्णाश्रम की पैरवी करते हुए भी राम के गुलाम होने को सबसे बड़ा सम्मान समझते थे । प्रभु भक्त सबसे ऊँचा पद बन गया था । तुलसी के राम ने शबरी को दिया, निषाद को आलिंगन में लिया, वशिष्ठ गुह से गले मिले । तुलसीदास भी जातिप्रथा का खण्डन करते हैं–

धूत कहौ, अबधूत कहौ, जोलाहा कहौ कोउ ।

काहूकी बेटी से बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोउ ।।

तुलसी सरनाम गुलाम है राम कौ, जाको रुचै सो कहै कछुओउ

मांगि के खैबो मसीन को सोइ बो, लैबो एक न दैबो को दोउ ।।

वस्तुत: भक्ति आंदोलन सभी भेद–भाव को दूर हटाने का प्रयास करता रहा । भक्त मंडली और सत्संग की सभा में कट्टरता जरूर कम थी । परंतु रोजमर्रे की जिन्दगी में शौचा–शौच और छुआ छूत के विचार भी बरकरार थे ।

2.1.2.3 धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थिति :

यह सच है कि विदेशी आक्रमण सदा तूफान की तरह आता है और विजित देश को हर तरह से तहस–नहस कर देता है, झकझोर देता है । भारत पर मुसलमानों का आक्रमण कुछ–कुछ इसी तरह का था । भयानक युद्ध हुए, कत्ले आम हुए । विजय के नशे में गाँव और शहर लूटे गए । धन–संपत्ति छीन ली गई । निरीह जन मारे गए । स्त्रियों की इज्जत खतरे में पड़ गई । मंदिर तोड़े गए । उनको मस्जिद में बदल दिया गया । जबरर्दस्ती धर्म परिवर्तन कराये गए । नेता और शासकवर्ग का अहंकार क्या नहीं करा सकता ?

लेकिन एक बार जब मुसलमानी सल्तनत बन गई तो दोनों धर्मों के लोग साथ–साथ रहने को मजबूर हो गए । लड़ाइयों और झगड़ों–झमेलों में पाशविकता बोलती थी । साथ–साथ रहने पर धीमी गति से मेलजोल बढ़ने लगा । पारस्परिक सहनशीलता बढ़ने लगी । शांति और विकास की प्रक्रिया शुरु हुई । यद्यपि अब भी दोनों धर्मों के कट्टर लोग सुलह नहीं कर पाते थे, फिर भी सामंजस्य होने लगा । अब जबरन धर्म परिवर्तन करना कम हो गया । उल्टे कुछ लोग आर्थिक और प्रशासनिक लाभ की आशा से इस्लाम को स्वीकार कर लेते थे । कभी–कभी कोई मुखिया, जनजाति का प्रधान या रोबदार शासक अपना धर्म बदलता तो उसके पीछे कुछ लोग चले जाते थे । धीरे–धीरे मुसलमानों ने अनुभव किया कि हिन्दुओं का धर्मविश्वास दृढ़ है । उसे

बल प्रयोग द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता । तब अत्याचार कम हो गया । फिर भी बाबर और औरंगजेब के समय कट्टरता का बोलबाला था ।

हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक नेताओं के आपसी मेल जोल से सूफी मत का प्रचलन हुआ । इसकी कई शाखाएँ भारत के विभिन्न स्थानों में स्थापित हो गईं । कई मुसलमानी महात्मा आए । सूफी साहित्य रचा गया । सूफियों का तीर्थस्थान हिन्दू और मुसलमान दोनों के आदर की वस्तुएँ बन गईं ।

सबसे महत्वपूर्ण बात हुई कि सामान्य जनता के मेल-जोल से वास्तुकला, संगीत और साहित्य आदि क्षेत्रों में पारस्परिक सहयोग बढ़ने लगा । अकबर अदि कुछ शासकों के कारण यह समन्वय प्रक्रिया तेजी से आगे बढ़ी । टकराव होते रहे, परंतु मानववादी विचारों का प्रभाव भी बढ़ रहा था ।

भारतीय धर्म और दर्शन का इतिहास :

मनुष्य-जाति के मानसिक विकास के साथ धार्मिक चेतना का भी विकास होता गया । प्राचीनतम काल से मनुष्य किसी-न-किसी रूप में एक शक्तिशाली तत्व को मानता-पूजता रहा । वृक्ष, पत्थर, पहाड़, नदियाँ, चंद्र, सूर्य, शिव-शक्ति आदि की मान्यता साधारण मानव के मनमें आस्था और विश्वास बनकर जमता गया । साधारण धार्मिक विश्वास शास्त्रीय बनता गया है ।

रामचन्द्र शुक्ल ने धर्म की भावात्मक अनुभूति को भक्ति कहा है । भारत में वेदों की रचना के साथ धार्मिक चेतना का विकास हुआ । भक्ति के बीज वेदों में भी मिलजाते हैं । प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ मुख्यत: वेदों के देवी देवता हैं । इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि के कार्यकलाप को देखकर भारतीय मनुष्य के मन में भावात्मक अनुभूति प्रकट हुई । यज्ञादि कर्मकाण्ड उस भावात्मक अनुभूति के बाहरी क्रिया मात्र है । उपनिषदों में चिंतन पक्ष प्रबल है । इन में भी भक्ति की चर्चा हुई है । भक्ति का विशेष प्रभाव महाभारत और पुराणकाल में हुआ है । क्रमश: एक परम देवता या परम भक्ति के स्थान पर त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की उपासना प्रचलित हुई । फिर महाभारत काल में 'भगवद् गीता' में ज्ञान और कर्म के साथ भक्ति को मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार कर लिया गया । कभी ज्ञान की प्रधानता रही (उपनिषदों में), कभी कर्म की (ब्राह्मण काल में), और कभी भक्ति की । वेदों के कर्मकाण्ड का विस्तार, यज्ञकार्य में साधन आदि की अधिकता, क्रिया बहुलता के साथ-साथ हिंसा और पाखण्ड भी बढ़ गये । तब जैन और धर्म का उद्‌भव उसकी प्रतिक्रिया के रूप में हुआ । जैन धर्म का विकास हीनयान, महायान, वज्रयान, तंत्रयान, मंत्रयान और सहजयान आदि में हुआ । उसमें गुह्य और कुच्छ्र साधनाएँ बढ़ गईं । व्यभिचार बढ़ गया । शैव तथा शाक्त मतों में भी भयानक और पाखंड-क्रियाएँ प्रधान हो उठीं । इस प्रकार धार्मिक चिंतन और आचरण की अराजकता आ गई । जनता किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई ।

2.1.3 दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात :

जब समग्र उत्तर भारत का राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन अत्यंत अस्तव्यस्त था, जब जनता हर तरह से परेशान थी, तब दक्षिण भारत में अपेक्षाकृत स्थिति अच्छी थी । यद्यपि जैन और बौद्ध धर्म का वहाँ विशेष प्रचार था और वह दोनों कालक्रम से रूढ़िग्रस्त, संवेदनहीन थे । उनका अपरिग्रह साधारण मनुष्य के लिए अस्वीकृत हो गया था । व्यक्ति ईश्वर के साथ संबंध-जोड़कर मुक्ति-मार्ग खोज रहा था । ऐसी स्थिति में छठी शती के उत्तरार्द्ध में दक्षिण भारत में दो प्रकार के संतों का आविर्भाव हुआ । जो भक्ति का अलंबन लेकर जीवन को सरस और अर्थपूर्ण बनाना चाहते थे । इसमें नयनार संत शिवभक्त थे और आलवार संत विष्णु भक्त थे । इनमें ब्राह्मण भी थे और निम्न जाति के लोग भी । आण्डाल उर्फ गोदा नाम की एक महिला थी जो पति के रूप में ईश्वर की भक्ति करती थी । जैनों और बौद्धों के दकियानूस और पुराणपंथी निरर्थक अनुष्ठानों से जनता का मन उचट गया था । आलवारों ने उपासना का एक सहज और सरल रास्ता अपनाया । वे सुबह उठकर मंदिरों में जाते, वहाँ अर्चावतारों का पंचोपचारों या षोड़षोपचारों से पूजा करते थे । उनके आगे वे गुण कीर्तन करते थे । संपूर्ण आत्मसमर्पण या प्रपत्ति उनकी विशेषता थी । इस ऐकान्तिक भावात्मकता से लोग प्रभावित हुए । इन संतों ने लोक प्रचलित मिथकों गाथाओं को लोकभाषा (तमिल, तेलुगु) में गान किया । आलवारों ने लगभग 4500 छन्दों की रचना की । इस का संग्रह किया गया और

दिव्य प्रबंधम् नाम से प्रकाशित किया गया । मुनि रंगनाथ, यमुनाचार्य आदि ने इन रचनाओं को संगृहीत किया । इनके आधार पर रामानुजाचार्य ने नवधा भक्ति का शास्त्रीय रूप में बखान किया । आलवारों की भक्ति साधना जनगण का समर्थन और शासकों का प्रोत्साहन पाकर शीघ्र ही दक्षिण भारत में प्रसारित हो गया ।

शंकराचार्य :

आठवीं–नवीं शती में आदि शंकराचार्य ने दार्शनिक स्तर पर बौद्ध मत के विरुद्ध धावा बोल दिया । वे देश के कोने–कोने में पैदल घुमते रहे और अपनी प्रखर प्रतिभा के सहारे शास्त्रार्थ करके बौद्ध दार्शनिकों को परास्त कर दिया । उनका सिद्धांत अद्वैतवाद के नाम से प्रख्यात हुआ । वे ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या मानते थे । 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' यह उक्ति प्रसिद्ध ही है ।

वैष्णवों के चार संप्रदाय :

यद्यपि शंकराचार्य ने प्रयासपूर्वक देश के चार दिशाओं में चार मठों (बद्रीनाथ, द्वारका, पुरी और शृंगेरी) की स्थापना करके अपने मतवाद का भरपूर प्रचार किया, फिर भी उनका निर्गुण ज्ञानवाद निराश मानव समाज को शांति नहीं दे सका । आलवार संतों से प्रेरणा लेकर चार आचार्यों ने शंकर के अद्वैतवाद का विरोध किया और अपने अलग–अलग सिद्धांतों का प्रख्यापन किया । इन सब में भक्ति ही मुख्य तत्व थी, इसलिए ये सब सरस और लोकप्रिय हुए ।

इन चार आचार्यों का पूर्ण विवरण नीचे दिया जा रहा है–

समय	संस्थापक आचार्य	मतवाद	संप्रदाय	उपास्य देवता
11 वीं	रामानुज	विशिष्टाद्वैतवाद	श्रीसंप्रदाय	लक्ष्मीनारायण
12 वीं	मध्व	द्वैतवाद	ब्रह्मसंप्रदाय	राधाकृष्ण
13 वीं	निम्बार्क	द्वैताद्वैतवाद	सनकादि संप्रदाय	राधाकृष्ण
14 वीं	विष्णुस्वामी	शुद्धाद्वैतवाद	रुद्रसंप्रदाय	बालकृष्ण

दक्षिण भारत के अलवार संतों की भक्तिसाधना दसवीं शताब्दी तक आते–आते कुंठित होने लगी । उसका उन्मुक्त और समतावादी चरित्र खोता गया । जातिभेद को नकारने पर वह बना रहा । ब्राह्मणों को आधिपत्य रहा । मंदिरों की संख्या बढ़ती गयी । कर्मकाण्ड और धार्मिक अनुष्ठान में बाहुल्य आया । ऐसी हालात में सबसे पहले रामानुज ने स्थिति को सुधारने का सत्प्रयास किया । संत लोग शास्त्रज्ञान की उपेक्षा करते थे । लेकिन रामानुज ने भक्ति को वैदिक परंपरा से जोड़ा । उन्होंने भक्ति का मार्ग सबके लिए खोल दिया और उसे दार्शनिक आधार प्रदान किया । वे तिरुपति मंदिर के संपर्क में थे । पुरी के जगन्नाथ मंदिर में प्रचलित पूजा –पद्धति के विकास में भी उनका योगदान रहा । इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर विष्णु भगवान के सगुण रूप की आराधना को बल मिला । उनका विशिष्टाद्वैतवाद शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में है, उनका ब्रह्म– अंशी है तो जीव उसका अंश है ।

दूसरे आचार्य हैं मध्व । उन्होंने द्वैताद्वैतवाद का प्रख्यापन किया । इसमें सेव्य–सेवक भाव आवश्यक माना गया । ब्रह्म और जीव दो अलग हैं । जगत् सत्य है; ईश्वर और जीव का भेद, जीवन का जीव से भेद, जड़ का जीव से भेद वास्तविक है । अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ विष्णु के अधीन रहकर ही कार्य करता है । जीवों में तारतम्य रहता है । उनके अनुसार वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है । मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन अमला भक्ति है । वेद का समस्त तात्पर्य विष्णु ही है । मध्वाचार्य का संप्रदाय ब्रह्म संप्रदाय के नाम से विख्यात है ।

निम्बार्काचार्य दक्षिण में थे । पर वे जल्दी ही वृंदावन आ गए । निम्बार्क का संप्रदाय सनकादि संप्रदाय के अंतर्गत है । भेदाभेद भाव या द्वैताद्वैत भाव इस संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत है । जीव ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म अंशी । जीव अणु, अल्पज्ञ है ।

भक्ति ही मुक्ति का साधन है । विष्णु के अवतार रूप कृष्ण ही उपास्य हैं । राधा–कृष्ण की युगलोपासना का विधान इस संप्रदाय में है ।

विष्णुस्वामी के शिष्य थे एक तैलंग ब्राह्मण । उनका नाम था बल्लभाचार्य । वे भी दक्षिण भारत से उत्तर भारत आए और वृन्दावन में बस गए । वे श्रीकृष्ण के बाल रूप के पूजक थे । इनके मत में ईश्वर का प्रधान अवतार नृसिंह है । कुछ विद्वान् इन्हें नृसिंह और गोपाल दोनों का उपासक मानते हैं । इस संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत ग्रंथ–रूप में उपलब्ध नहीं है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण भारत में उत्पन्न भक्ति आंदोलन का प्रसार उत्तर भारत तक हुआ । श्री संप्रदाय का विकास रामानन्द के रामावत संप्रदाय में हो गया । इस मत के आराध्य राम–सीता हो गए । यह उत्तर की प्रसिद्ध रामभक्ति शाखा बन गई । कबीर और तुलसी दोनों रामानंद के शिष्य थे । दोनों ने राम के निर्गुण और सगुण रूप का वर्णन किया । तुलसीदास का रामचरित मानस तो देश–विदेश में अत्यंत लोकप्रिय हो उठा । इसी प्रकार वल्लभाचार्य की कृष्ण भक्ति शाखा वृन्दावन को केन्द्र करके पुष्पित और पल्लवित हुई । इसका विकास पुष्टि संप्रदाय के नाम से हुआ । शुद्धाद्वैतवाद सिद्धांत इस संप्रदाय के दार्शनिक दृष्टिकोण है । शुद्धाद्वैत–दर्शन के अनुसार भगवान को जब रमण करने की इच्छा होती है तब वह अपने आनंद आदि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप ग्रहण करता है । इसमें केवल भगवान की इच्छा ही कारण है, माया का इससे किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं । आविर्भूत जीव नित्य होता है ।

2.1.4 भक्तिकाल का उदय :

उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के उदय को लेकर काफी विचार–विमर्श हुआ है । सर्वप्रथम जार्ज गियर्सन ने लक्ष्य किया–''हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आंदोलन के सामने पाते हैं, जो उन सब आंदोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारत ने कभी देखा था । इस युग में धर्म, ज्ञान का ही नहीं, बल्कि भावावेश का विषय हो गया था । यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पंडितों के जाति का नहीं, बल्कि जिसकी एकता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नार्ड ऑफ क्लेअरबक्स, टामस–ए–केम्पिस और सेंट थोरिसा से है । बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नयी बात दिखायी दी । कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चय नहीं कर सकता ।'' इसके आगे गियर्सन ने अनुमान लगाया कि ईसा की दूसरी शताब्दी में जो ईसाई भक्तों से प्रेमोल्लास के भावावेश का परिचय प्राप्त किया था । यह अनुमान तो पूरी तरह से भ्रमात्मक है । लेकिन गियर्सन ने ही सबसे पहले भक्ति आंदोलन की पहचान की थी ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्तिकाल का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए भक्तिकाल को हताश और पराजित हिन्दू जाति की मानसिक प्रतिक्रिया कहा । उनका कहना है कि विदेशी मुसलमान शासकों द्वारा भारतीय युद्धों में पराजित हुए । उनके मंदिर गिराए गए । प्रतिष्ठित पुरुषों का अपमान किया गया । ऐसी दशा में भारतीय हिन्दू न तो ''अपनी वीरता के गीत गा सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन सकते थे । आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़नेवाले स्वतंत्र राज्य भी न रह गए । इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छायी रही । अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर जाने की अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ।''

इस विश्लेषण के पीछे शुक्ल जी की इतिहास –दृष्टि थी । वे मानते थे कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है । जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है । शुक्ल जी ने तत्कालीन परिस्थितियों को अधिक महत्व दिया । उन्होंने यह लक्ष्य किया कि भक्ति आंदोलन दक्षिण से उत्तर की ओर आ रहा था । वे निष्कर्ष में लिखते हैं–''भक्ति का जो स्रोत दक्षिण की ओर से धीरे–धीरे उत्तर की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला ।'' शुक्ल जी ने इस प्रकार भक्ति का मूल स्रोत दक्षिण में माना पर उसके विकास और प्रसार के लिए अनुकूल परिस्थिति तैयार करने का श्रेय उत्तर की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को दिया ।

दूसरे प्रसिद्ध आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास–दृष्टि परंपरा पर टिकी है । इसलिए उन्होंने शुक्ल जी के तर्क को अस्वीकार किया । उन्होंने अपनी हिन्दी साहित्य की भूमिका में लिखा है–''मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस (हिन्दी) साहित्य का बारह आना कैसा ही होता जैसे आज है ।'' द्विवेदी जी तात्कालिक परिस्थितियों का महत्व स्वीकार करते हैं, पर उसे चार आने का महत्व देते है । बाकी बारह आना परंपरा को देते हैं । इसलिए वे भक्ति आंदोलन को 'भारतीय परंपरा का स्वाभाविक विकास' के रूप में देखने का आग्रह करते हैं । वे इसे 'भारतीय साहित्य की प्राणधारा' मानते हैं । 'हिन्दी साहित्य–उद्‌भव और विकास' ग्रंथ में द्विवेदी जी लिखते हैं–

''यह बात अत्यन्त उपहासात्मक है कि जब मुसलमान उत्तर भारत के मंदिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण भारत में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की । मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में या फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर प्रकट हुई वह दक्षिण भारत में ।'' द्विवेदी युग का कहना है कि साहित्यिक परंपरा को ठीक से न समझने के कारण भक्ति धारा बिजली की चमक की भाँति अचानक उमड़ती दिखती है, या फिर 'हतदर्प पराजित जाति की प्रतिक्रिया' प्रतीत होती है । वैसे उन्होंने इस्लाम के प्रभाव को पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया । पर उसे 'चार आना' माना । बाकी बारह आना 'लोक प्रवृत्ति को दिया । यह 'लोक शक्ति' या 'भीतर की शक्ति' थी जिसे आचार्यों ने उँगली पकड़कर शास्त्रीय रूप प्रदान किया । अर्थात् उस काल की लोकप्रवृत्ति का शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से युक्त हो जाना है । द्विवेदी जी सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुजाचार्य को आलवार संतों की परंपरा में देखते हैं । उन दिनों भी दक्षिण में आज की भाँति जाति–विचार जटिलतर अवस्था में था । फिर भी सद्‌वंशजात सर्वजन श्रद्धेय आचार्य ने तथाकथित नीच जातियों में प्रचलित ऐकांतिक भक्ति–धर्म को बहुमान दिया । देशी भाषा में लिखित रचनाओं को वेद के समान आदर दिया । उसे 'दिव्य प्रबंधम्' या 'तमिलवेद' कहा । स्पष्ट है कि आलवारों का भक्तिवाद भी जनसाधारण की वस्तु था, जो शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारत में फैल गया । भक्तों के अनुभूतिय सहज सत्य को बाद के आचार्यों ने दर्शन का क्रमबद्ध और सुचिंतित रूप दिया ।

द्विवेदी जी ने यह भी कहा है कि उत्तर भारत में भी वही बात हुई । द्विवेदी जी को उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन का वही रूप दिखाई दिया । वे कहते हैं–''यही बात उत्तर भारत के बारे में भी सत्य है । यहाँ भी साधारण जनता के भीतर जो धर्म–भावना विद्यमान थी, उसने शास्त्र की अंगुली पकड़कर अपने को शक्तिशाली रूप में प्रकट किया । इन प्रदेशों में पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था । गाहड़वार राजाओं के समय उत्तर भारत प्रधान रूप से स्मार्त धर्मावलंबी था । निस्संदेह नाथों का शैव धर्म भी पर्याप्त प्रभावशाली था, किंतु साधारण जनता स्मार्त मतावसलंबी थी । भक्ति के लिए जो बात नितांत आवश्यक है वह है भगवान के ऐसे रूप की कल्पना जिसके साथ व्यक्तिगत संबंध स्थापित किया जा सके । उत्तर भारत की जनता विष्णु के विविध अवतारों में विश्वास करती थी । पहले अवतारों की संख्या छह थी पर भागवत् में चौवीस तक पहुँच गयी । पहले (गीता के अनुसार भी) माना जाता था कि भगवान दुष्टों के दमन और साधुओं के परित्राण के लिए अवतार धारण करते हैं । बाद में विचार बदला । इस काल तक आकर यह विश्वास किया जाने लगा कि भगवान के अवतार का मुख्य हेतु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए और लीला का विस्तार करना है । भक्त भगवान के चरित का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, भक्ति पाने के उद्देश्य से करते हैं । भगवान का मुख्य विषय ऐकान्तिक भक्ति ही है । कैवल्य (मोक्ष) या अपुनर्भव को भी भक्त लोग इसके सामने तुच्छ समझते हैं । इसलिए मध्यकालीन भक्ति साहित्य का प्रधान स्वर अवतारवाद है । अवतारों की कल्पना ने ऐकांतिक भक्ति को बड़ा सहारा दिया । अवतारों से ही उस लीला विस्तार होता है जिसका श्रवण और मनन भक्ति का प्रधान साधन है ।

2.1.5 भक्ति आन्दोलन का अखिल भारतीय स्वरूप :

दक्षिण भारत में ईसा के प्रथम आठ–नौ सौ वर्ष समृद्धि का काल था । चोल और पल्लव राजाओं के प्रताप से राज सत्ता मजबूत रही । इन राजाओं ने कृषि, व्यापार, स्थापत्य और मूर्त्तिकला आदि को काफी बढ़ावा दिया । सिंचाई के लिए कावेरी नदी में बाँध बने, नहरें खुदवाई गईं । पूर्व एशियाई देशों के साथ जलपथ से काफी व्यापार होता था । कांची पुरम् में वस्त्र का निर्माण

और व्यापार होता था । ऐसे समय में सभी प्रकार के लोगों को काम धन्धे मिलते थे । अत: उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी ।

आलवार संतों का आविर्भाव काल ईस्वी छठी से दसवीं शती तक है । उनसे प्रेरित होकर आचार्यों ने अपने शिष्य और अनुयायियों के माध्यम से भक्ति की धारा को उत्तर भारत की ओर संचालित किया । दक्षिण से एक स्रोत महाराष्ट्र गया । तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में वहाँ संत ज्ञानेश्वर और नामदेव आदि भक्तों ने इस आंदोलन को वहाँ के जातीय और सांप्रदायिक एकता को मजबूत करने में लगाया । आगे-चलकर तुकाराम और रामदास हुए जो इसे महाराष्ट्रीय जनजीवन को शक्तिशाली बनाने में उपयोग किया । रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य का सीधा संपर्क ओड़िशा से रहा । उन्होंने जगन्नाथ जी को केन्द्र करके ओड़िशी मत को परिपुष्ट करने में योगदान किया । मध्वाचार्य (आनन्द तीर्थ) के शिष्य नरहरी तीर्थ उत्कल की धर्म साधना से जुड़े रहे । निम्बाकाचार्य भी कुछ दिन पुरी में रहे । जगन्नाथ मंदिर के इर्दगिर्द इन सबका मठ आज भी कार्य कर रहे हैं । ओड़िशा के पंचसखा (बलराम, जगन्नाथ, अच्युतानंद, अनंत और यशोवन्त) ने जगन्नाथ जी को सोलह कलाओंवाला पूर्ण ब्रह्म माना । इन में महाराष्ट्री संतों की तरह निर्गुण और सगुण का भेद नहीं था । श्री चैतन्य के पुरी में निवास करने के बाद जगन्नाथ धर्म का ज्यादा प्रचार हुआ । बलराम दास की एक छोटी रचना 'लक्ष्मीपुराण' से जातिभेद का विरोध और नारी स्वातंत्र्य का स्वर सुनाई पड़ता है । मंदिर में महाप्रसाद की सेवा में आज भी जाति-पाँति का कोई भेद भाव नहीं किया जाता । बंगाल के चंडीदास ने मनुष्य को सबके ऊपर रखा । ''सबार ओपरे मानुष सत्य ताहार उपरे नाइँ ।'' चैतन्य के शिष्य हिन्दू और मुसलमान दोनों थे । पंजाब में गुरु नानक से लेकर गुरु गोबिंद सिंह तक लंबी संत-परंपरा चली । उससे समाज संगठित हुआ । भाईचारा और समता बढ़ी । असम के शंकरदेव ने जनजीवन को काफी प्रभावित किया । इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति आंदोलन की लहरों से सारा देश प्लावित हो उठा । इस आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानव मात्र के महत्व को प्रतिष्ठित करना । उसे जीवन की उपयोगिता समझाना था । इसने पूरे देश को एक सांस्कृतिक सूत्र से जोड़ दिया । सभी भाषाओं में प्रचुर भक्ति साहित्य लिखे गए । लोक शक्ति और लोकचेतना जागृत हुई । धार्मिक साधना सबको सुलभ हुई । स्त्रियों को भी अधिकार मिला । बहु आडंबर, कठिन कर्मकाण्ड के स्थान पर सरल भावात्मक और ईश्वर के प्रति ऐकांतिक प्रेम का प्रसार हुआ ।

उत्तर भारत में भक्ति का प्रभाव :

भक्ति आंदोलन से उत्तर भारत में तो अभूतपूर्व जागरण और सिहरण पैदा हुई । उत्तर भारत में दो आचार्यों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण रही । रामानुज की परंपरा में राघवानंद के शिष्य रामानंद हुए । ये बनारस में थे । रामभक्तिधारा के प्रवर्त्तक हुए । दूसरे विष्णुस्वामी के शिष्य वल्लभाचार्य ने वृन्दावन को अपना केन्द्र बनाया और कृष्ण भक्ति शाखा को पल्लवित किया ।

गुरु रामानंद :

रामानंद बड़े उदार प्रकृति के आचार्य थे । उन्होंने धर्मसाधना का द्वार सबके लिए खोल दिया । उनके शिष्यों में तुलसीदास जैसे ब्राह्मण शिष्य थे तो कबीर और रैदास जैसे निम्न जाति के संत भी हुए । ऐसा जान पड़ता है कि स्वामी रामानंद ने अपने शिष्यों को अनन्य भक्ति का उपदेश दिया । आकाश की भाँति उन्होंने अपनी छाया में शिष्यों को बढ़ने का पूर्ण अवकाश दिया । वे मध्यकाल के सच्चे महागुरु थे, जो युगधर्म की नाड़ी को पहचनानते थे । नाभादास के 'भक्तमाल' में रामानंद के बारह शिष्यों के नाम आते हैं । वे हैं-१. अनंतानन्द, २. सुखानन्द, ३. सुरसुरानंद, ४. नरहर्यानंद, ५. भावानंद, ६. पीपा, ७. कबीर, ८. सेना, ९. घनां, १०. रैदास, ११. पद्मावती, १२. सुरसुरी । इन में से कई भक्तों को छोटी जाति से उत्पन्न कहा जाता है । अनंतानंद के शिष्य कृष्णदास पयहारी हुए । वे नाभादास के गुरु अग्रदास के गुरु थे । नरहयनिंद को तुलसीदास का गुरु बताया जाता है । मीरा ने रैदास से दीक्षा ली थी । सुरसुरानंद की शिष्य परंपरा में दादूदयाल और सुन्दरदास हुए । इस प्रकार रामानंद की शिष्य परंपरा में निर्गुणवादी सगुणवादी तथा विभिन्न भाव से भजन करनेवाले भक्त हुए । लेकिन रामानंद का स्वयं सगुणवाद से ही संबद्ध रहा है ।

सभी परंपराएँ रामानंद को रामानुजीय संप्रदाय से संबंद्ध बताती हैं । परंतु दोनों संप्रदायों में काफी अंतर है । रामानुज के श्री वैष्णव संप्रदाय में सभी अवतार मान्य हैं । उनका उपास्य लक्ष्मीनारायण हैं । रामानंद के संप्रदाय में राम-सीता उपास्य हैं ।

कुछ लोगों ने इस संप्रदाय का नाम रामावत भी बताया है । मंत्र भी दोनों के भिन्न हैं । तिलक लगभग समान होने पर भी थोड़ी भिन्नता है । रामानुज के श्री भाष्य से अलग रामानंद का आनंद भाष्य मिलता है । उसका तात्त्विक विवेचन इस प्रकार है–

अनन्य भक्ति ही मोक्ष का कारण है और प्रपत्ति को मोक्ष का हेतु और कर्म को मुक्ति का अंग बताता है । इसके अनुसार जगत् का अभिन्न उपादान कारण ब्रह्म है । इसके अनुसार जीवों का परस्पर भेद और नानात्व सिद्ध है । इसी प्रकार स्वरूपत: जीव, अणु, कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता तथा नित्य है । जीव और ब्रह्म का भेद है । यह मत वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार करता है, विवर्तवाद का बारंबार प्रत्याख्यान करता है और नारद पाँचरात्र को प्रमाण रूप में उद्धृत करता है । सविशेषक ब्रह्म को प्रतिपादन करके सत्ख्यातिवाद को स्वीकार करता है । फर्कुहर का अनुमान है कि रामानंद जी ही अध्यात्म्य रामायण और अगस्त्य सुतीक्ष्ण संवाद दक्षिण से ले आए थे । तुलसी दास के रामचरित मानस पर इसका प्रभाव स्पष्ट है । ये ग्रंथों के द्वारा विशिष्टद्वैत की अपेक्षा शंकरमत अधिक पुष्ट होता है । सच में रामानन्द ने अपने शिष्यों को केवल अनन्य भक्ति की शिक्षा दी थी । क्योंकि उनके कई भक्त उनकी भाँति वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं मानते । जीव और ब्रह्म का भेद नहीं मानते । कई तो भगवान के सगुणत्व को नहीं मानते । जबकि संपूर्ण वेदांत शास्त्र सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है । लेकिन उनके सभी शिष्य शरणागति को मोक्ष का साधन जरूर मानते हैं । लगता है रामानंद के गुरु राघवानंद भी ऐसे महान थे । वे योग मार्ग की साधना से परिचित थे । अन्त:साधना और अनुभव सिद्ध ज्ञान की महिमा के विश्वासी थे । गुरु रामानंद की व्यापक भक्ति चेतना और उदार–दृष्टि अपने गुरु से उत्तराधिकार में मिली थी । इसलिए रामानंद को भोग प्रधान भक्ति मार्ग, सगुणोपासक भक्ति मार्ग और निर्गुणपंथी भक्तिमार्ग के सभी भक्त गुरु मान सकते थे ।

रामानंद की कई रचनाएँ प्राप्त होती हैं । उनमें रामरक्षा ज्ञानलीला, योग चिंतामणि, ज्ञानतिलक आदि हैं । सबकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य :

वल्लभाचार्य का जन्म रायपुर के चंपारन में एक तैलंग ब्राह्मण परिवार में हुआ था । पर उनका सारा जीवन उत्तरप्रदेश (प्रयाग, काशी, ब्रजमंडल) में व्यतीत हुआ । वे नाना शास्त्रों निष्णात पण्डित थे । तेजस्वी और प्रतिभासंपन्न महात्मा थे । अकबर इनकी प्रतिभा से प्रभावित थे । वल्लभाचार्य मूलत: विष्णु स्वामी के ब्रह्म संप्रदाय में दीक्षित थे । वल्लभ में 'शुद्धाद्वैतवाद' को स्वीकार करते हुए भी उसे एक नया रूप देकर अपने 'पुष्टिमार्ग' को प्रचलन किया । उनके विचार में भगवत् पुष्टि का साधन भक्ति ही है । भगवान के पोषण या अनुग्रह को ही भक्ति का संबल मानना चाहिए । वल्लभाचार्य ने साधन सापेक्ष भक्ति को मर्यादा–भक्ति के अंतर्गत रखा और भगवान के अनुग्रह मात्र पर निर्भर भक्ति को साधन निरपेक्ष पुष्टि भक्ति कहकर श्रेष्ठ समझा ।

शुद्धाद्वैत दर्शन के अनुसार ब्रह्म माया से सर्वथा अलिप्त अर्थात् शुद्ध है, जैसे सोना नाना रूपों में व्यवहृत होकर भी शुद्ध रहता है । अविकृत परिणामवाद को मानने से सच्चिदानंद ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगत् रूप में परिणत हो जाता है । जीव सत्य, नित्य और अणु है । जीव तीन प्रकार का है–शुद्ध जीव, संसारी, जीव और मुक्त जीव । वल्लभाचार्य की कई रचनाएँ मिलती हैं । उनमें प्रमुख थे हैं–अणुभाष्य, सुबोधिनी टीका, तत्वदीप निबंध शृंगाररस मण्डन, विद्वान् मण्डन आदि ।

वल्लभाचार्य ने सूरदास को दीक्षा देकर अपने साथ ले गये और वृन्दावन में अपने आराध्य देव श्रीनाथ जी के कीर्तन सेवा में लगाया । सूर रोज नए पद लिखकर श्रीनाथ जी के आगे गाते थे । वही 'सूरसागर' है ।

वल्लभ के सुपुत्र विट्ठलनाथ जी उन्हीं की भाँति तेजस्वी और प्रतिभाशाली थे । उन्होंने पिता के चार भक्तों समेत आठ अच्छे कवियों को अष्टछाप के नाम से संगठित किया । वल्लभ संप्रदाय का बड़ा प्रचार हुआ । मुख्यत: महाराष्ट्र, राजस्थान और उत्तरप्रदेश में दूर–दूर तक वह फैल गया । वल्लभ के आराध्य श्रीनाथ जी बालकृष्ण थे । उन्होंने श्रीराधा को श्रीकृष्ण की आल्हादिनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया था । इसलिए सूरदास के 'सूरसागर' में बालकृष्ण की लीलाओं का विस्तार से वर्णन है । यह सूरदास को महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित करता है । इसी प्रकार 'भ्रमरगीत' भगवत् पुराण में संक्षिप्त था । उसे सूरदास

ने विस्तार दिया । यह अत्यंत मौलिक काव्यात्मक और दार्शनिक चर्चा से सजीव है । नन्ददास भी 'अष्टछाप' के दूसरे प्रसिद्ध कवि हैं । उनका काव्य युक्ति संगत और आलंकारिक है । 'अष्टछाप' के सभी कवियों ने वल्लभाचार्य प्रतिपादित माधुर्य भक्ति का प्रख्यापन किया है । राधाकृष्ण की शृंगार–लीलाएँ कृष्णभक्ति काव्य का मुख्य उपजीव्य है । यह मानवीय स्तर की अनुभूतियों, चेष्टाओं से परिपुष्ट है तथा भावात्मक है । संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का वर्णन इसमें शामिल है । मानवीय धरातल होते हुए भी इन वर्णनाओं में अश्लीलता नहीं है । वरन् इसमें मानवीय भावनाओं का उदात्तीकरण हुआ है । प्रेम और ईश्वरीय भक्ति दोनों पर्यायवाची शब्द हो गये हैं ।

2.1.6 सारांश :

भक्तिकाल की पृष्ठभूमि में राजनीतिक परिस्थितियाँ, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ तथा भारतीय दर्शन और इतिहास को समझते हुए दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के सूत्रपात को समझा । भक्तिकाल के उदय और विकास को समझा । अलग अलग विद्वानों ने अपने मतानुसार इसको प्राय: एक ही नजरिए से देखा । भक्ति आंदोलन का अखिल भारतीय स्वरूप को स्वीकार करते हुए उत्तर भरत में उसके प्रभाव का अनुभव किया ।

हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य संख्या और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । अकेले 'सूरसागर' किसी भी भाषा के लिए गौरव ग्रंथ है । भक्तिकाल को हिन्दी का 'स्वर्णकाल' कहा गया है । यह सत्य है क्योंकि यह मानवीय भावों का अनुपम भंडार है । साथ में इसकी अभिव्यंजना कौशल भी पुख्ता है । इस साहित्य का अध्ययन काव्यानन्द सहित ब्रह्मानन्द भी प्रदान करता है ।

2.1.7 अभ्यास प्रश्न :

1 ''अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी हिन्दी साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है ।'' इस कथन के अनुसार भक्ति आंदोलन के उदय को समझाइए ।

2. ''भक्ति द्रविड़ उपजै लाये रामानन्द''–इस उक्ति के आधार पर भक्ति आंदोलन के अखिल भारतीय स्वरूप पर प्रकाश डालिए ।

3. तत्कालीन सामाजिक, ऐतिहासिक संदर्भ में भक्ति आंदोलन की व्याख्या कीजिए ।

●●●

अभ्यास प्रश्न

1. भक्तिकाल की पृष्ठभूमि पर एक लेख प्रस्तुत कीजिए ।
2. भक्तिकाल के नामकरण की सार्थकता प्रतिपादित कीजिए ।
3. भक्ति आंदोलन का उदय कब से हुआ है?
4. भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्णकाल क्यों कहा जाता है ?

संदर्भ ग्रंथसूची

- हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.
- हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-2015.
- हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2006.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेंद्र, मयूर पेपरबैक्स, नोएड़ा-2004.
- हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.

2.2 भक्तिकाल की विविध धाराएँ
(निर्गुण काव्यधारा : ज्ञानाश्रयी)

इकाई की रूपरेखा

2.2.0 उद्देश्य

2.2.1 प्रस्तावना

2.2.2 संतमत

2.2.3 संत परंपरा

2.2.4 ज्ञानाश्रयी शाखा

2.2.5 प्रमुख संतकवि

2.2.6 प्रमुख प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ

2.2.7 सारांश

2.2.8 अभ्यास प्रश्न

2.2.0 उद्देश्य :

निर्गुण काव्यधारा : ज्ञानमार्ग के अंतर्गत

- संतकाव्य की पृष्ठभूमि को जान सकेंगे
- संत परंपरा के परिचित हो सकेंगे
- ज्ञानमार्ग का अर्थ और दृष्टिकोण से अवगत होंगे
- प्रमुख संतकवियों का परिचय पा सकेंगे
- संतकाव्य धारा की प्रवृत्ति और विशेषताओं से परिचित होंगे

2.2.1 प्रस्तावना :

भक्तिधारा मुख्य रूप से दो धाराओं में प्रवाहित हुई है–सगुण मार्ग और निर्गुण मार्ग । सगुण की दो धाराएँ हैं–कृष्ण भक्ति और रामभक्ति । इसी प्रकार निर्गुण की दो धाराएँ हैं–ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी । निर्गुण ज्ञानमार्गी संत काव्यधारा में हिन्दी साहित्य के सन्त कवियों की निष्पक्षता, न्यायप्रियता, भक्तिभावना और काव्यधारा के आधार पर इसे ज्ञानमार्गी काव्यधारा कहा गया है । इसे 'संत काव्यधारा' और 'निर्गुण काव्यधारा' नाम भी दिए गए हैं । संतकवियों ने तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं को अपने जीवन के व्यापक अनुभव के आधार पर जनता के लिए बोधगम्य बनाया और समाज में फैली भीषण परिस्थितियों में आशा के आलोक बिखरने का काम किया । इन कवियों ने हिन्दू–मुसलमान दोनों को समाज के अभिन्न अंग माना है तथा उनमें भावात्मक एकता लाने की कोशिश की । संतकवियों ने धार्मिक सहिष्णुता को समाज के विकास के लिए आवश्यक तत्व माना । उनके साहित्य में आध्यात्मिक चेतना के साथ–साथ सामाजिक चेतना भी सक्रिय थी । निर्गुण काव्य में विवेक और मानवीय

अनुभव को प्रामाणिक माना गया है । इसी कारण पांडित्य और पुस्तकीय ज्ञान को संत कवि व्यर्थ मानते हैं । उन्होंने साहित्य में लौकिक अनुभूति को स्थान दिया ।

2.2.2 'संत' शब्द का अर्थ और संतमत :

प्राय: बुद्धिमान, पवित्रआत्मा, परोपकारी और सज्जन व्यक्ति के लिए संत शब्द का प्रयोग होता है । अर्थात् 'संत' शब्द उस 'शुद्ध अस्तित्व' का बोधक है जो सदा एकरस और निर्विकार रूप में विद्यमान रहता है । अतएव, संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत्रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो ।

तत्व का ग्रहण कर, अनुभव और विवेक के समन्वय से ही संत मत अस्तित्व में आया । कबीर दास कहते हैं, ''सतगुरु तन कह्यौ विचार, मूल गह्यौ अनभै बिचार ।'' बुद्धदेव का मानना है कि, ''कोई बात इसलिए न मानो, कि वह किताबों में लिखी है, कि वह तुम्हारे मत के अनुरूप है, कहनेवाला सुवेग है, अधिक पढ़ा-लिखा है, वयोवृद्ध है, तुम्हारा श्रद्धेय है । जब तुम मर्म विवेचन से यह जान लो कि वह जो कुछ कह रहा है, उसमें तुम्हारी ही नहीं दूसरों का भी कल्याण है, तभी मानो ।'' कबीर आदि संतों ने अनुभव और विवेक को महत्व दिया है ।

संत कवि ईश्वर से तादात्म्य करने के लिए नामोपासना की पद्धति को स्वीकार करते हैं । परमब्रह्म या परमतत्व के विषय में किसी प्रकार दार्शनिक विवेचन इन्होंने नहीं किया है । ब्रह्म को संत कवियों ने राम, खुदा, रहीम आदि अनेक नामों से पुकारते हैं । किंतु सबका लक्ष्य परमतत्व का साक्षातकार करना ही है । नाम स्मरण की विशेषता यह है कि इसमें साधक का ध्यान बराबर अपने इष्टदेव में लगा रहता है । संतों की यह साधना पद्धति अजपाजप के नाम से प्रसिद्ध है । उनकी वाणियों में योग साधना के प्रतीकों की चर्चा मिलती है । संतों के निर्गुण निराकार की उपासना पद्धति का 'अभेद' शक्ति का नाम दिया जाता । किंतु उनकी भक्ति पूर्णत: भावात्मक नहीं थी । भक्ति के आलम्बन 'राम' निर्गुण निराकार हो सकते हैं पर उपासना के क्षेत्र में आकर वे अनुपम व्यक्तित्व से मंडित हो जाते हैं । राम की उपासना की विधि बताकर संतकवि मनुष्य के मन में 'सत्' भावना का विकास करना चाहते हैं । उनका लक्ष्य है कि दया, ममता, स्नेह, परोपकार जैसे कोमल भाव मनुष्य के हृदय में बने रहे । इनके लिए अवतार की आवश्यकता नहीं है । मनुष्य का विकास विश्वकल्याण की भावना से हो सकता है ।

2.2.3 संत परंपरा :

कबीरदास जैसे संतों की परंपरा का आरंभ विक्रमी । 15 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था । स्वामी रामानंद (सं 1355-1467) कबीर दास के दीक्षा गुरु थे । संत रविदास, सेना, नाई, पीपा, धन्ना आदि इनके गुरु भाई थे । जनश्रुति के अनुसार स्वामी रामानंद जी के उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने संतपरंपरा का सूत्रपात किया । वस्तुत: संतपरंपरा की विचारधारा के लिए अनुकूल भावभूमि बहुत पहले से ही तैयार हो रही थी । पूर्व में बौद्ध धर्म, वज्रयान एवं सहजयान में परिणत हो गया था । वैष्णव संप्रदाय और उसमें कई बातों का आदान-प्रदान हुआ और वे निकट आने लगे । इसी प्रकार का वैचारिक सामंजस्य नाथपंथ एवं स्थानीय वैष्णव सम्प्रदाय के मध्यमहाराष्ट्र तथा राजस्थान में देखने में आया । फलस्वरूप पूर्व में संत जयदेव, महाराष्ट्र में संत ज्ञानदेव एवं नामदेव, पश्चिम में संत बेनी एवं साधना तथा कश्मीर में संत ललछव का आविर्भाव स्वामी रामानंद से पहले हो चुका था । आगेचलकर हिन्दी में कबीर आदि संतों की परंपरा में बाबरी साहिब, कमाल, दादूदयाल, सुंदरदास, गरीबदास, जगजीवन साहब, जन्मदास, सिंगाजी, हरिदास, निरंजनी, मलूकदास, अक्षरअनन्य, गुरुनानक, चरणदास, गुलाब साहब आदि अनेक कवि हुए हैं । संत जयदेव से इस परंपरा का प्रथम युग आरंभ होता है । इनके पीछे दो सौ वर्षों तक संत परंपरा चलती रही और अधिकतर संत पथ-प्रदर्शक के रूप में आए । 15 वीं शताब्दी में कबीरदास ने संतमत के सिद्धांतों का प्रचार विस्तृत रूप से तथा स्पष्ट शब्दों में किया । आचार्य शुक्ल के अनुसार कबीर दास ही निर्गुण भक्ति धारा के प्रवर्तक हैं ।

2.2.4 ज्ञानाश्रयी शाखा :

ज्ञानमार्ग की प्रतिष्ठा शंकराचार्य ने की थी । उन्होंने ज्ञान और भक्ति तथा निर्गुण और सगुण भक्ति के विरोध की स्थापना करते हुए निर्गुण को ज्ञान से जोड़ा । निर्गुण ब्रह्म और ज्ञान साधना को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार किया । इसी कारण निर्गुण काव्यधारा में ज्ञान की अनुभूति को भक्ति माना जाता है । अर्थात् निर्गुण ब्रह्म ज्ञान साधना के द्वारा सहज ही बिना किसी, भक्ति मार्गीय पद्धति के साधनों के उत्पन्न होता है । संत कबीर ने इसे 'सहजज्ञान' या 'ब्रह्मगियान' कहा है । निर्गुण भक्त कवियों के लिए ज्ञान अनुभव की परिपक्वता का प्रतीक है । शंकराचार्य के ज्ञान में सैद्धांतिक और बौद्विक चिंतन का द्वन्द्व है । कबीर आदि संत कवियों के ज्ञान अनुभव पर आधारित है । इन कवियों ने सैद्धान्तिक रूप में निर्गुण मार्ग और ज्ञानमार्ग को अपनाते हुए उसके व्यावहारिक पक्षों पर अधिक बल दिया ।

ज्ञानमार्ग (निर्गुण) का अर्थ एवं स्वरूप :

निर्गुण शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'गुण रहित' । किंतु संतों के काव्यों में निर्गुण साहित्य का द्योतक न होकर उस परंब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो सत्, रज और तम तीनों गुणों से अतीत है । वाणी जिसके स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ है अर्थात् जो 'गूँगे के गुड़' के समान अनुभूति का विषय है । जो रंग, रूप, रेखा से परे है । परंपरा में भारतीय चिन्तक भी जिसके स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ रहकर नेति–नेति का आश्रय ले बैठे । यह निर्गुण ब्रह्म घट–घट वासी है, फिर भी इन्द्रियों से परे है । वह अवर्ण होकर भी सभी वर्णों में है । अरूप होकर भी सभी रूपों में विद्यमान है । वह देश–काल से परे है, आदि अन्त से रहित है, फिर भी पिंड और ब्रह्माण्ड सभी में व्याप्त है । निर्गुण के स्वरूप के बारे में कबीरदास कहते हैं–

संत धोखा कासूं कहिये ।

गुन में निरगुन, निरगुन में गुन, बाट छाँड़ि क्यूँ बहिये ।

अर्थात् –हे संतों, मैं धोखे की बात किससे कहूँ ? गुण में ही निर्गुण हैं और निर्गुण में ही गुण, उसका ध्यान छोड़कर कहाँ बहता फिरा जाय ?

ज्ञानमार्ग (निर्गुण) के दृष्टिकोण :

1. चराचर जगत में व्याप्त ब्रह्म वह है जो सामाजिकों के दु:ख को जानता है और भावना से प्रभावित होता है ।
2. यह ब्रह्म निराकार, अलक्ष्य, द्वैता द्वैतविलक्षण, सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों से परे हैं, फिर भी यह घट–घट में बसा हुआ है ।
3. यह निर्गुण ब्रह्म अनुभूति का विषय है और यह प्रेम से ही मिलता है ।
4. यह निर्गुण ब्रह्म तद्युगीन सामाजिक विषमताग्रस्त समाज को एकता की अनुभूति कराने का सशक्त माध्यम बन सका ।

निर्गुण भक्ति में समानता का संदेश है । निर्गुण भक्त कवियों का स्वप्न एक ऐसे समाज का निर्माण करना था, जिसमें किसी प्रकार का भेद–भाव न हो ।

2.2.5 प्रमुख संतकवि :

नामदेव :

संतकवि नामदेव का जन्म 1329 ई० को सतारा के नरसी बमनी (बहमनी) गाँव में हुआ था । बचपन से ही साधुसेवा और सतसंग में जीवन बिताते रहे । ये संत विसेवा खेचर के शिष्य थे तथा प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के प्रति भी इनकी गहरी निष्ठा थी । मराठी में रूपित अभंगो के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं । सधुक्कड़ी भाषा में रचित इनकी रचनाओं में निर्गुणोपासना कर्मकाण्ड का खण्डन तथा ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया गया है ।

''जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जलते भिन न होई ।
इहु परपंचु पारब्रह्म की लीला, विचरत आन न होई ।।
मिथिआ भरमु अरु सुपन, मनोरथ, सति पदारथु जानिआ ।
सक्रित मनसा गुर उपदेसी, जागत ही मनु मानिआ ।।
कहत नामदेउ हरि की रचना, देषहु रिदै बिचारी ।
घट-घट जंतरि सरब निरन्तरि, केवल एक मुरारी ।।

संत नाबदेव पेशे से दजी थे । वे गज, कैंची और सुई-धागे के माध्यम से ही भक्ति रहस्य उद्‌घाटित करते थे । सामान्य जनता उनके पेशे से परिचित थी; अत: उनकी रूपक-योजना को सही ढंग से समझने में सक्षम थी ।

कबीर दास (सन् 1456-1575)

इस संतकवि के जन्म से लेकर मृत्यु तक की घटना किंबदंतियों से जुड़ी है । जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म काशी की एक विधवा ब्राह्मणी के घर में हुआ था । लोकलज्या के कारण वह इन्हें लहरतारा ताल के निकट छोड़ आई । नीरू और नीमा नामक एक जुलाहा दंपति ने इनका पालन-पोषण किया । रामानंद इनके गुरु थे । उनसे नाम का मंत्र लेने के लिए ये पंचगंगा, घाट की उन सीढ़ियों पर जा पड़े जहाँ से प्रात:काल रामानंद स्नान करने जाते थे । अंधेरे में रामानंद के चरण कबीर साहब पर पड़ गए और रामानंद जी बोल उठे 'राम राम कह' । बस कबीर जी को राम नाम का मंत्र मिल गया । आगे चलकर यह मंत्र मानव सत्य के महान् लक्ष्य की प्राप्ति, में तथा वैष्णव के दुराग्रहों को छोड़कर सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना में सहायक हुआ । कबीर ने कागज कलम नहीं छुआ । इन्होंने आत्मचिंतन और लोक अनुभव से जो ज्ञान प्राप्त किया, उसी को निर्भयतापूर्वक अपनी साखियों और पदों में अभिव्यक्त किया, उसी को निर्भयतापूर्वक अपनी साखियों और पदों में अभिव्यक्त किया । कबीर ने समाज में प्रचलित वर्णाश्रम धर्म की कुरीतियों को ही नहीं लोक में प्रचलित अपधर्म (जादू-टोना, मंत्र-तंत्र, टोना-टोटका आदि) को भी पहचाना । वे साहसी और तेजस्वी व्यक्तित्व के अधिकारी थे । उनकी कथनी और करनी में समानता पायी जाती थी । वे ऐसे कर्मयोगी थे जो अंधविश्वासों की खाई पाटने के लिए अपना आत्मोत्सर्ग के लिए तैयार थे । उस समय काशी को देवभूमि मानकर यह विश्वास किया जाता है कि जिस व्यक्ति की मृत्यु इस देवभूमि में होगी वह अवश्य स्वर्गलोक में स्थान प्राप्त करेगा और जो मगहर में मृत्युवरण करेगा वह अगले जन्म में निकृष्ट योनि में जन्म लेगा । जनता में फैले इस अंधविश्वास को तोड़ने के लिए जीवन के अंतिम समय में कबीर मगहर में जाकर रहने लगे । उन्होंने यह सिद्ध किया कि 'एक जीव ने सब जग उपज्या कौन भला कौन मंदा' और इसी प्रकार यह अंधविश्वास भी तोड़ा, जो काशी तन तजै कबीरा तो रामहि कहा निहोरा रे ।

कवि के रूप में कबीर जीवन की सहजता से अधिक निकट हैं । उनकी कविता में छंद-अलंकार, शब्दशक्ति आदि गौण हैं और लोकमंगल की भावना मुख्य है । इनकी वाणी का संग्रह इनके अनुयायियों ने 'बीजक' के नाम से किया है । 'रमैनी', 'संबद' और 'साखी' के रूप में ये रचनाएँ 'बीजक' में संगृहीत हैं । 'रंमैनी' और 'संबद' में गाने के पद हैं जबकि साखी दोहा छंद में लिखी गई है । सिखों के गुरु ग्रंथ साहब में भी कबीर के नाम से 'पद' तथा 'सलोकु' संग्रहीत हैं । अपनी रचनाओं में कबीर ने जाति-पाँति, छुआ-छूत, अंधविश्वास, रूढ़िवादी दृष्टिकोण, पूजा-अर्चना तथा धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध किया है । इनकी अभिव्यंजना शैली बहुत सशक्त है । इनकी भाषा मूलत: पूरब की है, किंतु उसमें अन्य बोलियों का भी मिश्रण होने के कारण उसे 'सधुक्कड़ी' कहा जाता है । इनके काव्य में प्रतीक योजना का सुंदर निर्वाह हुआ है । ये प्रतीक वात्सल्य तथा दाम्पत्य जीवन की विविधता का संकेत करते हैं ।

रैदास :

संत रैदास अथवा रविदास के जीवनकाल की तिथि के विषय में कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता । इनके समकालीन धन्ना और मीरा ने अपनी रचनाओं में बहुत श्रद्धा के साथ इनका नाम उल्लेख किया है । माना जाता है कि ये कबीरदास के समकालीन थे । रैदास की परिचई में उनके जन्म काल का उल्लेख नहीं है । इसलिए समकालीन कवियों को प्रमाण मानकर कहा जा सकता है कि इनका जन्म संभवत: पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ होगा । उनकी कविता में सामाजिक विषमता के प्रति घोर विरोध है । वह कविता में बार-बार अपने को चमार कहकर संबोधित करते हैं । जातिप्रथा और कर्मकाण्ड को उन्होंने तोड़ने का उपदेश दिया । उनकी कविता में मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा जैसे बाह्य आडम्बर का विरोध पाया जाता है । रैदास ने जनता को निश्छल भाव से भक्ति की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया ।

अब कैसे छूटै राम, नाम रट लागी ।

प्रभु जी तुम चंदन हम पानी, जाकि अंग-अंग बास समानी ।

प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चन्द चकोरा ।

प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकि जोति बरै दिन राती ।

प्रभु जी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलन सुहागा ।

प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदास ।

फुटकल रूप में इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं । आदि ग्रंथ में इनके कुछ पद मिलते हैं । अनन्यता, भगवत्-प्रेम, दैन्य, आत्मनिवेदन और सरलता इनकी रचनाओं की विशेषता है । संत रैदास रामानंद के बारह शिष्यों में से एक थे ।

- **गुरु नानक देव :**

नानक पंथ के प्रवर्तक गुरु नानक देव जी का जन्म सं० 1526 के वैशाख मास की तृतीया तिथि को तिलवंडी गाँव में हुआ था । गुरु नानक देव जी को बचपन से ही अध्यात्म में रूचि थी । अत: वे ऐसे मत की ओर आकर्षित हुए जिसकी उपासना पद्धति साम्प्रदायिक न हो । इनकी बानियों का संग्रह 'आदिग्रंथ' के 'महला' नामक खण्ड में हुआ । इनकी रचनाओं में धार्मिक विश्वास, नाम स्मरण, एकेश्वरवाद, परमात्मा की सर्वव्यापकता, विश्व प्रेम, नाम की महत्ता आदि का परिचय मिलता है । नानक देव की वाणी का प्रत्येक उदगार अनुभूति की गहराई से निकला प्रतीत होता है । सरलता और अहंकाशून्यता इनकी प्रकृतिगत विशेषताएँ हैं । इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा और खड़ी बोली के प्रयोग भी मिलते हैं ।

- **संत दादूदयाल :**

दादू पंथ के प्रवर्तक दादूदयाल का जन्म गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर में सं० 1601 में माना जाता है । इनकी मृत्यु सं०1660 को राजस्तान प्रान्त के नराणा गाँव में हुई, जहाँ पर इनके अनुयायियों का प्रधान मठ 'दादू द्वारा' वर्तमान है । दादू को 'परम ब्रह्म सम्प्रदाय' का प्रवर्तक माना जाता है । बाद में इसे दादू पंथ के नाम से संबोधित किया गया । इनकी आध्यात्मिक अनुभूति बड़ी तीव्र थी । इनकी वाणियों का संग्रह 'हरडेवाणी' के नाम से जगन्नाथ दास ने प्रस्तुत किया । इस ग्रंथ को इनके शिष्यों ने सुधार कर 'अंगबंधु' नाम से प्रस्तुत किया । दादू की अन्य एक रचना 'कायाबेलि' है । इन रचनाओं में दादू का संत हृदय की स्पष्ट छाप मिलती है । इनकी बानियों में ईश्वर की सर्वव्यापकता, सद्गुरु का महिमा, आत्मबोध, संसार की अनित्यता का निरुपण हुआ है । संत दादू कबीर से प्रभावित थे । परंतु उनकी कविता में सगुण-निर्गुण की टकराहट की भावना नहीं थी । उनकी कविता में प्रेमभाव की अभिव्यक्ति है । यह प्रेम निर्गुण निराकार ईश्वर के प्रति है :

भाई रे ! ऐसा पंथ हमारा ।

द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा ।

बाद विवाद काहू सैं नहीं मैं हूँ ना जग थें न्यारा ।।

समदृष्टि सूँ भाई सहज में आपहिं आप बिचारा ।

मैं तैं मेरी यह मति नाहीं निखैरी निरविकारा ।।

काम कल्पना कदे न कीजै पूरन ब्रह्म पियारा ।

एहि पथि पहुँचि पार गहि दादू सो तब सहज संभारा ।।

निर्गुण भक्ति कवि होने पर भी इन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप को मान्यता दी है । इनकी भाषा राजस्थानी है, जिसमें गुजराती, सिंघी, पंजाबी, फारसी आदि के प्रयोग भी मिलते हैं ।

- **संत सुन्दरदास :**

संत सुन्दरदास दादूदयाल के शिष्य थे । इनका जन्म सं० 1653 में जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी धौसा नगर में हुआ था । इनका महाप्रस्थान सांगनेर में सं० 1746 में हुआ । संत सुन्दरदास देशभर में घूमते थे । भ्रमण के लिए वे पूर्व में बंगाल, पश्चिम में द्वारका, उत्तर में बद्रिकाश्रम और दक्षिण में मध्यदेश तक गए हैं । भ्रमण के समय ये दादू के सिद्धांतो का प्रचार करते थे और साथ ही साथ काव्य ग्रंथ की रचना भी करते थे । इनकी रचनाओं में 'सुंदर विलाप' सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है । समाज की रीति, नीति तथा भक्ति पर इन्होंने विनोदपूर्ण उक्तियाँ कही हैं । निर्गुण संतकाव्य धारा में एक प्रकार की अनगढ़ता मिलती है । संत काव्यधारा की कविता पर किसी प्रकार अंकुश नहीं होता पर सुन्दरदास की कविता में शास्त्रीय अनुशासन है । उन्होंने कविता में निर्गुण–सगुण विवाद को तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है । लोक जीवन की रूढ़ियों का विरोध उसमें नहीं है । इनकी कविता को पढ़कर यह पता चलता है कि धीरे–धीरे निर्गुण भक्ति का आक्रोश भी मंद पड़ गया था । निर्गुण भक्तिकाव्य शास्त्रीय बंधन में बँधने को तैयार होने लगा था ।

''गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खें लगाइ कै देह संवारी ।

मेह सहे सिर सीत सहे तन धूप सभै जो पचागिनि बारी ।

भूख सही रहि रुख तरे पर सुंदरदास सबै दुख भारी ।

डासन छाँड़ि कै कासन ऊपर आशन मारयो तै आस न मारी ।।''

निर्गुण भक्ति धारा के कवि होने पर भी उन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप को मान्यता दी है । इनकी रचनाओं की भाषा राजस्थानी है, जिसमें गुजराती सिंधी, पंजाबी, पारसी आदि प्रयोग भी मिलते हैं ।

- **संत मलूकदास :**

संत मलूकदास का जन्म इलाहाबाद के कड़ा नामक गाँव में सं० 1631 में हुआ । 106 वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु सं० 1739 में औरंगजेब के समय में हुई । इनके गुरु को लेकर विद्वानों में मतभेद है । एक मत के अनुसार कील इनके गुरु थे, तथा दूसरा मत इन्हें द्राबिड़ विट्ठल का शिष्य बताता है । मलूकदास के प्रामाणिक ग्रंथ हैं : 'ज्ञानबोध', 'ज्ञानपरोछि', 'रामअवतारलीला', 'रत्नखान', 'भक्तवच्छावली', 'भक्ति विवेक', 'विभवविभूति', 'सुखसागर', 'ब्रजलीला', 'ध्रुवचरित' आदि । जिनमें 'रत्नखान' और 'ज्ञानबोध' दो प्रसिद्ध पुस्तकें हैं । मलूकदास की कविता में आख्यानशैली का प्रयोग मिलता है । इन्होंने विविध उदाहरणों से लोगों को इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मोपासना आदि की रचनाएँ उपदेश दिया है । अवतारों और चरित्रों से संबधित इनकी रचनाएँ भी मिलती हैं । आत्मबोध और वैराग्य मलूकदास की कविता के मुख्य उद्देश्य हैं ।

''कहत मलूक जो बिन सिर खेपै सो यह रूप बखानै ।

या नैया के अजब क्या, कोई बिरला केवट जानै ।

कहत मलूक निरगुन के गुन कोई बड़भागी गावै ।

क्या गिरही औ क्या बैरागी हरि देये सो पावै ।''

काव्य रचना में इन्होंने अवधी और ब्रजभाषा का प्रयोग किया है । इनकी भाषा में अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग मिलता है । कुल मिलाकर इनकी भाषा व्यवस्थित और सुंदर है । इन्होंने हिन्दू, मुसलमान दोनों को समान भाव से उपदेश दिया ।

- **प्रमुख प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ :**

संत साहित्य से यह ज्ञान होता है कि सभी संतकवि निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल देते हैं । जनता को निर्गुण राम की उपासना का व्रत देकर निर्गुण पंथी कवियों ने भक्ति को लोक में सामरस्य स्थापित करने पर बल दिया । निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति सद्‌गुरु से ज्ञान प्राप्ति से ही हो सकती है । उनके अनुसार संसार मायामय है । लोक में फैले मायाजाल के आवरण को भेद कर के ही ज्ञान चक्षु खोलकर परमब्रह्म का साक्षातकार संभव है । इस ज्ञान के महिमा ने समाज की विषमता की स्थिति की ओर संत कवियों का ध्यान आकृष्ट किया । संत काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस प्रकार से है :

- **भक्ति निरूपण :**

लोक प्रचलित सामान्य अर्थ में ईश्वर के प्रति आसक्ति ही भक्ति है । इसमें श्रद्धा और प्रेम के तत्वों का योग आवश्यक है । संत कवियों ने भक्ति के द्वारा लोक हृदय को आस्था का संबल देकर सामाजिक एक्य स्थापना पर बल दिया है । इन कवियों ने भक्ति के अनुभूति –पक्ष को प्रधान रूप से चित्रित किया है । निर्गुण ब्रह्म की प्रतीति ज्ञान के द्वारा की जा सकती है । इसी कारण इन कवियों को ज्ञानमार्गी कहा गया । इन्होंने सगुणवाद, अवतारवाद और मूर्तिपूजा आदि को व्यर्थ बताया है और केवल निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकार किया है । संतों की भक्ति के उपास्य परब्रह्म परमेश्वर हैं । एक मात्र इसी भक्ति से भवसागर से मुक्ति साधन बताया है । ईश्वर के अनुराग का भाव इनकी साधना का लक्ष्य है । यह आत्मनिवेदन और नामस्मरण से ही संभव है । अपने परमब्रह्म के प्रति वे दास्य, दैन्य, सख्य, रति, वात्सल्य आदि सभी भावों से अपना हृदय का संबंध रखते हैं । इनके भक्ति भाव में सबसे पहले अहंकार का त्याग अत्यन्त आवश्यक है । अहंकार का नाश होते ही भक्त और भगवान के बीच का अन्तर मिटजाता है । इस प्रकार की भक्ति साधना अत्यन्त कष्टप्रद है क्योंकि इसमें साधक को अपने शरीर के भीतर के शत्रुओं को जीतना पड़ता है । भक्ति हृदय की प्रवृत्ति है । इसकी दिशा और लक्ष्य आध्यात्मिक हैं, भगवान का सामिप्य प्राप्त कर उसके साथ एकात्म हो जाना है भक्त का लक्ष्य है । इस स्थिति में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अंतर नहीं रहता । प्रेम की अनुभूति को, परमात्मा की अनुभूति को सिर्फ भावन ही किया जा सकता है :

''अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाय ।
गूंगे केरी सरकरा, खाए और मुसकाय ।।''

'आत्मनिवेदन' भक्ति भावना का प्राण है । भक्ति की अन्य विशेषता एकमात्र भगवान के गुणों का वर्णन करना है । संत कवियों की वाणी बार–बार यही कहती है–निर्गुण राम जपहु रे भाई ।' निर्गुण भक्ति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता निष्काम भक्ति है । इस प्रकार भक्ति करने से जीवनकाल में जीवनमुक्ति और देह त्यागने पर मुक्ति मिलती है ।

संत कवियों का लक्ष्य निर्गुण भक्ति पद्धति का प्रचार करना था, जिसमें ऊँच–नीच का भेद भाव न हो । इन्होंने नामकरण को ही भक्ति साधना का आधार माना है । निर्गुण भक्ति पद्धति के माध्यम से कर्मकाण्ड को दूर कर देती है । साधना का यह मार्ग सिर्फ भक्ति नहीं थी, अपितु भक्ति के माध्यम से मानवीय न्याय की साधना का प्रयास था ।

- **सामाजिक चेतना :**

भक्तिकालीन भक्तिकाव्य मूलत: सामाजिक –सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में सामने आता है । भक्ति आंदोलन ने समाज के हरवर्ग से जुड़े लोगों में सम्मानपूर्वक जीवन–यापन करने की आशा का संचार किया । यह मध्यकालीन जागरण, लोकजागरण, भारतीय जागरण अर्थात् जन–आन्दोलन के नाम से जाना जाता है । यह आंदोलन रूढ़िग्रस्त समाज और उसकी अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश तथा जिजीविषा की तीव्रतम अभिव्यक्ति था । भक्ति आंदोलन के विषय में नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध' पुस्तक में गजानन माधव मुक्तिबोध लिखते हैं–'भक्ति आंदोलन का जनसाधारण पर जितना

व्यापक प्रभाव हुआ उतना अन्य किसी आंदोलन का नहीं । पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए । कबीर, रैदास, सेना, पीपा आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलान्द की । समाज के न्यस्त स्वार्थवादीवर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यंभावी था, वही हुआ ।'

संतों का समय राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से उथल-पुथल का समय था । एक तरफ हिन्दू समाज की वर्णाश्रमवादी व्यवस्था थी जिसका विरोध सिद्ध-नाथ आदि ने किया तो दूसरी तरफ इस्लाम की धार्मिक कट्टरता, उग्रता और सामाजिक विषमता थी । ऐसी स्थिति में आम जनता पिसी जो रही थी । मानवता पर सबसे बड़ा खतरा था । मानवता को बचाए रखने के लिए संतकवियों ने भारतीय संस्कृति को आस्था का सम्बल प्रदान किया । इन कवियों में मानवता के प्रति अटूय आस्था थी । संत कवियों की रचनाएँ सामाजिक अव्यवस्था, अनैतिकता तथा अनावश्यक विडम्बनाओं के विरोध में रची जाती थी । उस समय शास्त्रीय धर्म ने सत्य को विभाजित करके देखा-पारमार्थिक सत्य और लौकिक सत्य । अर्थात् भक्ति के क्षेत्र में कोई भेदाभेद नहीं, पर सांसारिक क्षेत्रों में जाति पाँति, ऊँच-नीच का भेद व्यवस्था का महत्व है । निर्गुण संत कवियों ने इस दोहरी व्यवस्था पर प्रश्न उठाया । उन्होंने स्पष्ट किया कि सत्य विभाजित नहीं हो सकता । कबीर आदि संतों ने इस सत्य को पहचाना । इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है-उस समय लोक में यह मान्यता थी कि जो व्यक्ति काशी में मृत्युवरण करेगा उसे स्वर्ग में स्थान प्राप्त होगी, और जिस व्यक्ति की मृत्यु मगहर में होगी उनका अगला जन्म निकृष्ट योनि में होगी । इस मान्यता को तोड़ने के लिए कबीर ने अपना सारा जीवन काशी में बिताया, परंतु अंतिम समय में मगहर चले गए ।

- **सद्‌गुरु की महत्ता :**

संत कवियों ने सांसारिक माया जाल को तोड़कर ईश्वर के साक्षातकार के लिए सद्‌गुरु के महत्व को स्वीकारा है । ये सद्‌गुरु ज्ञानरूपी दीप को प्रज्ज्वलित करते हैं । आत्मा परमात्मा (ईश्वर) से मिलने को व्याकुल है । इसके लिए सद्‌गुरु मार्गदर्शन कराता है । जिस दिन संत कबीर ने गुरु रामानंद से 'राम' नाम की दीक्षा ली । उस दिन से उन्होंने श्रेष्ठ सहज समधि में भी दीक्षा ली । उनका दैन्यदिन कार्य ही सेवा बन गया, वाणी नाम स्मरण हो गया ।

यह सब गुरु की कृपा से ही हुआ । अत: भक्ति के मार्ग पर सद्‌गुरु ही ऐसा है जो चंचल मन को पंगु बना देता है और स्थूल में ही सूक्ष्म का दर्शन कराता है । वह प्रेम का ऐसा प्रसंग दिखाता है कि प्रेम के बादल बरसते हैं और सारा शरीर भीग जाता है । कबीर की वाणी इस प्रकार है :

''कबीरा बाद प्रेम का, हम परि बरस्या आइ ।
अंतरि भीगीं आत्मा, हरी भई बनराइ ।।''

गुरु कृपा से ही शिष्य संसार के समस्त बंधनों से मुक्त हो सकता है । संत कवियों ने गुरु को मुक्ति के पर्याय के रूप में स्वीकार किया है ।

- **संत काव्य में राम :**

संत कवियों के राम साकार ब्रह्म न होकर निराकार ब्रह्म हैं । वे अवतार रूपी नहीं है और न ही राजा दशरथ के पुत्र हैं । सगुण और निर्गुण दोनों भक्ति धाराओं के कवि संसार को मायाजन्य मानकर इससे मुक्ति के लिए नामस्मरण पर बल देते हैं । तुलसीदास (सगुण कवि) और कबीरदास (निर्गुण कवि) इस हेतु राम नाम के महात्म्य को स्वीकार करते हैं पर दोनों की उपासना की पद्धति भिन्न है । राम नाम की समानता होने पर स्वरूपगत अंतर का मुख्य कारण 'लीला' और 'अवतार' का अंतर है । रामानंद आकाशधर्मा गुरु थे । उन्होंने सगुण और निर्गुण दोनों कवियों को राम नाम का मंत्र दिया । तुलसी के राम (सगुण रूप) अवतारी है । अवतार लेकर शक्ति, शील आदि से भक्तों की इच्छापूर्ति करते हैं । निर्गुण कवियों के 'राम' ब्रह्मस्वरूप हैं । वे अगम, अगोचर, अविनाशी हैं । वे जन्म मरण से परे हैं ।

''जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप ।
पुहुप बास ते पातरा, ऐसा तत्व अनूप ।।''

- **रहस्यवाद :**

''रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक आत्मा से अपना शान्त और निच्छल संबंध जोड़ना चाहती है । यह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता, आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन ।'' (रामकुमार वर्मा) दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद का जो स्थान है वही स्थान भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद का है । आत्मा का परमात्मा में लीन होने के तीन चरण हैं । पहला, आत्मा परमात्मा की ओर आकर्षित होती है । दूसरा, आत्मा परमात्मा से प्रेम करने लगती है । यह प्रेम इतना तीव्र होता है कि सांसारिक वस्तुएँ मायामय और नश्वर प्रतीत होने लगती हैं । तीसरें में आत्मा परमात्मा में तादात्म्य स्थापित कर लेती है । अद्वैतवाद रहस्यवाद के प्राण है, जो मानता है कि आत्मा और परमात्मा वस्तुत: एक ही है, जिनके मध्य माया का आवरण पड़ा हुआ है । आवरण हटते ही आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है ।

''जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहिर भीतर पानी ।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यहु तत कथ्यौ गियानी ।।''

- **प्रेम लक्षणा भक्ति :**

संतकाव्य में प्रेमदर्शन सूफीकाव्य के प्रभावस्वरूप ही आया । इसी से संतकाव्य में प्रेम लक्षणा भक्ति का जन्म हुआ । प्रेम की तीव्र अनुभूति में उस अनादि तत्त्व के प्रति ऐसी लगन लग जाती है कि संसार की कोई स्मृति नहीं रहती । संतों की प्रेम-पद्धति मूलत: भारतीय रही है । संत कवि परमात्मा को प्रियतम और स्वयं (आत्मा) को प्रियतमा के रूप में स्वीकार करते हैं, 'हरि मोर पिउ मैं हरि की बहुरिया' कहकर कबीर इस प्रेम संबंध को उद्‌घाटित करते हैं ।

2.2.7 सारांश :

संतकाव्य धारा ने भक्ति को व्यापक धार्मिक सांस्कृतिक आंदोलन का स्वरूप प्रदान किया । फलत: सामाजिक अस्थिरता के उस युग में हिन्दू और मुसलमान के लिए सामान्य भक्ति मार्ग की उद्‌भावना संभव हो सकी । यह धर्म का एक ऐसा स्वरूप था जिससे साधना, प्रेम, अहिंसा, समन्वय की दिशा में जनता के हृदयों में सामाजिक एकता की स्थापना की आशा जगने लगी । अपनी उपासना-पद्धति में सहज, सरल और निर्विकार आत्मा के महत्व का प्रतिपादन करके संतकाव्य धारा ने मानव और मानवता के सत्य को अपना लक्ष्य बनाया । इनका लक्ष्य समाज के सभी वर्ग एवं वर्ण के मानव को विकास के समान धरातल प्रदान करना था । संतों की वाणी काव्यत्व की दृष्टि से सशक्त है । इसका मुख्य कारण सहज भाषा और लोकभाषा की ओर झुकाव था । इन कवियों के अनुभूति पक्ष ने ही इन्हें क्रांतिदर्शी कवि बना दिया । देशाटन और अनुभव के कारण संतकवियों की भाषा सांस्कृतिक विविधता से युक्त होकर विशाल जनसमूह के भावों से जुड़ने में समर्थ हो सकी है ।

2.2.8 अभ्यास प्रश्न :

1. संतकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन कीजिए ।
2. 'संत' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए संत कवियों का संक्षिप्त परिचय प्रदान कीजिए ।
3. संत साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए ।

4. संत काव्यधारा क्या है और इसकी मुख्य विशेषताएं क्या हैं? इस धारा के कवियों ने किस प्रकार के विचार और भावनाओं को साहित्यिक रूप में व्यक्त किया?
5. संत काव्यधारा की मुख्यता किस क्षेत्र में देखी जा सकती है - धार्मिक, सामाजिक, या साहित्यिक? इसके उदाहरण देकर स्पष्ट करें।
6. संत काव्यधारा ने कैसे भारतीय समाज और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई? इसका समाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव क्या रहा?
7. संत काव्यधारा का साहित्यिक और धार्मिक विकास किस प्रकार से हुआ? इसके विकास में क्या-क्या प्रमुख कारक थे?

संदर्भ ग्रंथसूची

- संत काव्यधारा एवं साहित्य, डॉ. सुधा सिंह, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली-2019.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.
- हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-2015.
- हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2006.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेंद्र, मयूर पेपरबैक्स, नोएड़ा-2004.
- हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.

2.3 निर्गुण प्रेममार्गी काव्यधारा :
इकाई की रूपरेखा

2.3.0 उद्देश्य

2.3.1 प्रस्तावना

2.3.2 सूफ़ी शब्द का अर्थ

2.3.3 सूफ़ी मत

2.3.4 प्रेमाख्यान का स्वरूप

2.3.5 सूफ़ी काव्य की मूल प्रेरणा

2.3.6 सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य–परंपरा

2.3.7 प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ

2.3.8 सारांश : मूल्यांकन

2.3.9 अभ्यास प्रश्न

2.3.0 उद्देश्य :

निर्गुण प्रेममार्गी (सूफी) काव्यधारा के अंतर्गत :

- सूफ़ी काव्य की पृष्ठभूमि की जानकारी मिल सकेगी
- सूफ़ी मत और उसके सैद्धान्तिक स्वरूप की जानकारी मिलेगी
- सूफ़ी प्रेमाख्यान के स्वरूप, मूल प्रेरणा, काव्य परंपरा का अध्ययन कर सकेंगे
- सूफ़ी काव्य की प्रवृत्ति तथा विशेषताओं को जान सकेंगे
- सूफ़ी काव्यधारा के महत्व को समझ सकेंगे ।

2.3.1 प्रस्तावना :

निर्गुण भक्ति की दूसरी धारा प्रेममार्गी काव्य धारा है । यह सूफ़ी काव्यधारा भी माना जाता है । इस काव्यधारा ने अपने उदार मानवीय दर्शन से यह सिद्ध किया है कि ''एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूपरंग के भेदों की ओर से ध्यान हटाकर एकत्व का अनुभव करने लगता है ।'' (रामचन्द्रशुक्ल) सूफ़ी कविता की परंपरा भी इस कथन को प्रमाणित करती है । भावुक मुसलमानों द्वारा प्रवर्तित 'प्रेम की पीर' की यह काव्य परंपरा अपनी विकास प्रक्रिया के दौरान हर उदार मानवीय और कवि हृदय को अपने में समाती चली गई, संप्रदाय, मत था दर्शन की परवाह किए बिना मानवीय आवेगों ने संकीर्णताओं को बहा दिया और मानववादी दृष्टि की स्थापना की ।

2.3.2 सूफ़ी शब्द का अर्थ :

'सूफ़ी' शब्द के विषय में विद्वानों में मतभेद है । इस शब्द की व्युत्पत्ति अनेक शब्दों से मानी गई है । 'सूफ़ी' शब्द के मूल अर्थ तक पहुँचने में इन मतों की महत्वपूर्ण भूमिका है । पहला मत 'सुफ्फा' या 'सुफ' से इसका संबंध है । जिसका अर्थ है– 'चबूतरा' । इस मत को माननेवालों का कहना है कि सऊदी अरब के एक पवित्र नगर मदीना की मस्जिद के सामने के चबूतरे पर एकत्र होकर परमात्मा के चितंन करनेवाले संत ही सूफी कहलाए । दूसरे मत के अनुसार सूफी शब्द की व्युत्पत्ति 'सांफ' शब्द से कही गई है । इस मत के अनुसार जीवन पर्यन्त सफा अर्थात् स्वच्छ एवं पवित्र जीवन व्यतीत करनेवाले संत ही सूफ़ी हैं । वस्तुत: सूफ़ी उन्हें ही कहना चाहिए जो मनसा, वाचा एवं कर्मणा पवित्र कहे जा सकते हैं । एक मत यह भी कहता है कि 'सफा' ऐसे व्यक्ति को कहना चाहिए, जो न केवल परमात्मा के प्रति निश्छल भाव रखता है, बल्कि तदनुसार सभी प्राणियों के साथ भी शुद्ध आचरण करता है । इस शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति 'सोफिया' से भी कही गयी है–जिसका अर्थ है–ज्ञान । इस ज्ञान की विशेषता उसके निर्मलभाव में निहित है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार निर्मल प्रतिभा संपन्न व्यक्ति ही सूफ़ी कहलाए । कुछ विद्वानों के अनुसार यह शब्द 'सफ' से निकला है जिसका अर्थ है –सबसे आगे की पंक्ति अथवा प्रथम श्रेणी । यहाँ आगे की श्रेणी या प्रथम पंक्ति का मतलब कयामत के दिन ईश्वर के प्रियपात्र होने के कारण सबसे आगे की पंक्ति में खड़े किए जानेवाले व्यक्ति या व्यक्तियों से है । इसी व्युत्पत्ति क्रम में सूफाह, बनू सूफा शब्द भी आते हैं । सूफाह शब्द का अभिप्राय: सांसारिकता से विरत हो खुदा की सेवा में नरत रहनेवालों से है । बनू सूफा एक घुमक्कड़ जाति विशेष है । वलीउद्दीन के अनसार 'सूफ़ी' शब्द की व्युत्पत्ति सूफे शब्द से हुई है जिसका अर्थ है –ऊन । इस व्युत्पत्ति के अनुसार मोटे सफेद ऊन के कपड़े पहनकर परमात्मा के प्रेम में मगन रहनेवाले फकीर ही सूफ़ी कहलाए ।

जायसी ग्रंथावली में सूफी मत का परिचय देते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है–''आरंभ में सूफ़ी एक प्रकार के फकीर या दरवेश थे, जो खुदा की राह पर अपना जीवन ले चलते थे, दीनता और नम्रता के साथ बड़ी फटी हालत में दिन बिताते थे । ऊन की कंबल लपेटे रहते थे । कुछ दिनों तक तो इस्लाम की साधारण धर्म शिक्षा के पालन में विशेष त्याग और आग्रह के अतिरिक्त इनमें कोई नई बात या विलक्षणता नहीं दिखाई पड़ती थी । पर ज्यों–ज्यों ये साधना के मानसिक पक्ष की ओर प्रवृत्त होते गए, त्यों–त्यों इस्लाम के बाह्य विधानों से उदासीन होते गए । फिर तो धीरे–धीरे अंत:करण की पवित्रता और हृदय के प्रेम को मुख्य करने लगे और बाहरी बातों को आडंबर ।''

'सूफ़ी' शब्द के विविध व्युत्पत्तियों के आधार पर सूफी के निम्नलिखित लक्षण स्वीकार किए गए हैं :–

- बाह्य आडंबरों के स्थान पर भीतरी तत्वों पर बल देना, जिसका प्रतिपादन वे मनसा, वाचा, कर्मणा करते हैं ।
- ये लोक व्यक्तिगत साधना में रत होते हुए भी लोक की अनदेखी नहीं करते ।
- परमात्मा के साथ–साथ प्राणीमात्र के प्रति उत्कट अनुराग का भाव ।
- गहरा मानवीय मूल्य–बोध, जो संप्रदाय एवं साधना की सीमाओं में नहीं अटता । वैचारिक –उदारता उनके चरित्र की विशेषता है ।
- प्रेम को जीवन के मूल–तत्व के रूप में पहचानना, पर ज्ञान के प्रति कोई शंका नहीं रखना ।

2.3.3 सूफ़ी मत :

सूफ़ी मत संपूर्ण रूप से प्रेमाश्रित रही है । व्यक्ति साधना के उत्कर्ष स्थान में पहुँचने पर भी इनकी दृष्टि में लोक रक्षा और लोक–रंजन के प्रति गहरा लगाव रहा । परंपरा को स्वीकार करते हुए भी रूढ़ एवं जर्जर तत्वों को इन्होंने स्वीकार नहीं किया । अपने स्वच्छन्द और उदार विचारों के कारण सूफीसंत कट्टर मुसलमानों के लिए काफ़िर थे । सूफ़ियों के सिद्धान्त एवं दर्शन किसी विशेष संप्रदाय या पूर्वाग्रह से निर्मित न होकर उनकी उदार मानवीय दृष्टि के ही प्रतिफलन थे । सूफ़ीमत का भारत में आगमन कब हुआ, इस प्रश्न को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं दिखता । प्रारंभिक सूफ़ी साधक जन्म से इस्लाम धर्म से संबंद्ध

थे, अत: इस्लाम धर्म के आगमन के उपरांत ही ये साधक भारत में आए होंगे । विद्वानों का मत है कि 1000 ई० के बाद ही सूफ़ीमत भारत में आया । कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि भारत में सूफ़ीमत ख्वाज़ा मुईनुद्दीन चिश्ती के साथ ही आया है । परशुराम चतुर्वेदी का मानना है कि ''भारत में सूफ़ीमत के प्रचार का आरंभ वास्तव में उस समय से होता है जब विक्रम की 12 वीं शताब्दी के प्रथम चरण में यहाँ के प्रसिद्ध सूफ़ी अल्–हुज्विरी का आगमन हुआ ।'' भारत में सूफ़ीमत के चार संप्रदाय हैं :–

• **चिश्ती संप्रदाय (12 वीं शताब्दी)** –यह सर्वाधिक प्रसिद्ध संप्रदाय है । ख्वाजा अबू इसहाक शामी चिश्ती या उनके शिष्य अबू अब्दाल चिश्ती का नाम इस संप्रदाय के प्रवर्तक के रूप में लिया जाता है । इसी संप्रदाय के माध्यम से ही सूफी मत का प्रचार भारत वर्ष में करने का श्रेय ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी को जाता है । चिश्ती संप्रदाय में संगीत–तत्व को प्रधानता दी गयी है ।

• **सुहर्वर्दिया सुहरवर्दिया सोहरावर्दी संप्रदाय (12वीं शताब्दी)** –भारत में इस सूफ़ी संप्रदाय के प्रवर्त्तक बहाउद्दीन जकारिया माने जाते हैं । ठेठ –इस्लाम धर्म की स्वीकृत बातों के विरोध में जाकर इस संप्रदाय के साधकों ने अपनी उदारतावादी दृष्टिकोण का परिचय दिया ।

• **कादरी या कादिरिया संप्रदाय (15 वीं शताब्दी)**–इस संप्रदाय के प्रवर्तक अब्दुल कादिर अल–जीलानी थे । भारत में इसके प्रचारक सैयद मुहम्मद गौस 'वालापीर' थे । इस संप्रदाय ने संगीत को अधिक महत्व नहीं दिया है ।

• **नक्सबंदी या नक्श बंदिया संप्रदाय (15 वीं शताब्दी)** –इस संप्रदाय को ख्वाजा वहाउद्दीन 'नक्शबंद' ने आरंभ किया था । भारत में इसका प्रचार करनेवाले ख्वाजा बाकी बिल्ला बेरंग थे ।

उदार–धर्मी सूफ़ीमत भारत में आकर यहाँ के दार्शनिक मतों एवं उनके सिद्धांतों का प्रभाव ग्रहण कर निरंतर विकासमान रहा । यही कारण है कि एकेश्वरवाद से आरंभ सूफी साधकों की यात्रा सर्वात्मवाद एकतत्ववाद से होती हुई अद्वैतवाद तक पहुँचती है । सूफी–साधकों की रह निरंतर विकासमान स्थिति जहाँ एक ओर उनके उदारमना होने का परिचय देती है वहीं दूसरी ओर स्थूल दृष्टिवाले पैगम्बरियों के लिए इनकी बातें कुफ्र समझी गई । कारण–एकेश्वरवाद का मतलब यह है कि, एक सर्वशक्तिमान सबसे बड़ा देवता है, जो सृष्टि की रचना, पालन और नाश करता है । अद्वैतवाद का मतलब है कि दृश्य जगत की तह में उसका आधार स्वरूप एक ही अखण्ड नित्य–तत्त्व है और वही सत्य है । उससे स्वतंत्र और कोई अलग सत्ता नहीं है और आत्मा परमात्मा में भेद है ।

सूफ़ी मज़हवी दस्तूर को अपनी व्यापक मानवीय दृष्टि के कारण स्वीकार नहीं करते । वे विधि मार्ग के विरोधी न थे । उन्हें कुरान के साथ–साथ वेद और पुराण भी लोककल्याण के मार्ग को प्रतिपादन करनेवाले प्रतीत हुए :

राघव पूज जाखिनी, दुहज देखाएसि साँझ ।

वेदपंथ जे नहिं चलहिं, ते भूलहिं बन माँझ ।

झूठ बोल थिर रहै न राँचा । पँडित सोइ वेदमनत सोंचा ।।

सूफ़ियों के अनुसार मानव सृष्टि का चरमोत्कर्ष है और वही ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति है । मानव का परमलक्ष्य उसकी पूर्णता की प्राप्ति होना चाहिए ।

• **प्रेमाख्यान काव्य का स्वरूप :**

सूफ़ीकाव्य धारा की मूल चेतना प्रेम रही है । इसी विशेषता के कारण इसे प्रेमाश्रयी, प्रेममार्गी, प्रेम–काव्य, प्रेमाख्यानक तथा कथा काव्य के नाम से जाना जाता है । यहाँ प्रेमाख्यानक तथा कथा काव्य को छोड़ अन्य नामों का अर्थ स्पष्ट है, अत: सूफी काव्य के संदर्भ में इन दो नामों पर विचार अपेक्षित है । हिन्दी साहित्य में यह शब्द प्राय: प्राचीन कथानक या वृतान्त के अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं । इसके अन्य पर्याय हैं–कथा, कथानक, आख्यायिका, वृत्तान्त आदि । अपने व्यापक अर्थ में यह कहानी

कथा का पर्याय हैं और इसका सीमित अर्थ है : ऐतिहासिक कथानक, पूर्ववृत्तकथन । जहाँ तक प्रेमाख्यानों के अर्थ एवं स्वरूप का प्रश्न है, उसके संबंध में रामपूजन तिवारी जी के शदों में कहा जा सकता है कि ''लोकप्रचलित कथाएँ हैं इन काव्यों का आधार रही हैं । इन कहानियों में ऐतिहासिकता होना जरू नहीं था । कल्पना का सहारा लेकर उन प्रेम कहानियों को मांसल बनाया जाता था । इन प्रेम कहानियों में प्रेमी और प्रेमिका के उत्कट प्रेम, उनके मिलन के मार्ग की बाधाएँ, मिलन का वर्णन बड़े रोचक ढंग से होते हैं ।''

2.3.5 सूफ़ी काव्य की मूल प्रेरणा :

भारत में सूफी संप्रदाय का आगमन एवं विकास मुस्लिम साधकों द्वारा ही हुआ । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा कि इस शैली की प्रमुख कहानियाँ मुसलमानों के ही द्वारा लिखी गईं । इन भावुक और उदार मुसलमानों ने इनके द्वारा मानो हिन्दू जीवन के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की । यदि मुसलमान हिन्दी और हिन्दू साहित्य से दूर न भागते इनके अध्ययन जारी रखते तो हिन्दुओं के प्रति सद्भाव की कमी न रह जाती ।

मुसलमान होने के बावजूद सूफी कवियों की नजरिया मानववादी थी । वे मानवसत्य का उद्घाटन करना चाहते थे । सत्य की अभिव्यक्ति में जो दर्शन सहायक हो सकता था, उसे सूफी प्रेमाख्यानों प्रेमाख्यानकारों ने बड़े आदर भाव से ग्रहण किया । डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने जायसी की कविता पर विचार करते हुए लिखा है–''जायसी के संदर्भ में यह बात फिर उभरकर आती है कि कविता मात्र सांप्रदायिक नहीं होती । मुसलमान होकर हिन्दू शौर्य की गाथा–दिल्ली के सुल्तान के विरुद्ध–एक नाजुक प्रसंग है । पर जायसी 'पद्मावत' के चित्रण में एकदम खरे उतरते हैं । यहाँ दोनों पक्षों का पूरे आदर और आत्मीयता से उल्लेख हुआ है –'हिन्दू तुरक दुवौ रन गाजै और अगर आत्मीयता कहीं कुछ अधिक है तो चितौड़ के साथ, नकिदिल्ली के ।'

स्पष्ट है कि सूफ़ी साधकों के काव्य की मूल प्रेरणा संप्रदाय सापेक्ष न होकर मूल्य सापेक्ष्य है । ये मूल्य समय–सापेक्ष होने के साथ–साथ सार्वभौम भी थे । इसी से सूफी कविता अपने प्रभाव में कालजयी कविता है ।

2.3.6 सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा :

मानवता के स्वरूप को लेकर आगे बढ़नेवाली सूफ़ी काव्य परंपरा अत्यंत समृद्ध रही है । इसी परंपरा में कवि मलिक मुहम्मद जायसी की 'पदमावत' उत्कृष्ट ग्रंथ है । इस ग्रंथ में सूफ़ी काव्य परंपरा की सभी विशेषताएँ एक साथ दिखाई पड़ती हैं । 'पद्मावत्' ग्रंथ की उत्कृष्टता एवं विषय–शैली इस बात की ओर संकेत करते हैं कि जायसी से पूर्व ही यह परंपरा प्रारंभ हो गई थी । उनके बाद भी सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा निरंतर प्रवाहित हुई । इस परंपरा के श्रेष्ठ कवि जायसी को आधार बनाकर प्रेमाख्यानक काव्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है :

(i) जायसी पूर्व प्रेमाख्यानक काव्य

(ii) जायसी उत्तर प्रेमाख्यानक काव्य

(i) जायसी पूर्व प्रेमाख्यानक काव्य

जायसी के पूर्व प्रेमाख्यानक काव्यों की पुष्टि जायसी का पदमावत् कर देता है । इस सूची में गिनायी गई प्रेमाख्यानक रचनाओं में केवल मृगावती और मधुमालती ही प्राप्त हो सकी हैं ।

''विक्रम धँसा प्रेम के बारा । सपनावति कहँ गएउ पतारा ।।
मधूपाछ मुगुधावति लागी । गगनपूर होइगा वैरागी ।।
राजकुँवर कंचनपुर गायऊ । मिरगावति कहँ जोगी भयऊ ।।
साधु कुँवर खण्डरावत जोगू । मधुमालति कर किन्ह वियोगू ।।

प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा । ऊषा लगि अनिरुध वर बाँधा ।।''

जायसी के इस छन्द में कुछ नाम छूट गए हैं । इस परंपरा में मुल्ला दाऊद की चंदायन या नूरकचंदा, दामो कवि की लक्ष्मण से पद्मावती, शेख रिजकुल्ला मुश्ताकी की रचना प्रेमवनजोब निरंजन, नारायणदास (रतनरंग) की छिताईवार्ता ईश्वरदास विरचित सत्यवती कथा महत्वपूर्ण हैं ।

(ii) जायसी उत्तर प्रेमाख्यानक काव्य

जायसी के बाद भी प्रेमकथाओं की यह परंपरा गतिमान रही । इस परंपरा को आगे बढ़ानेवाले कवि, उनकी रचनाएँ तथा उनका रचनाकाल इस प्रकार है :

रचयिता	**रचना**	**रचनाकाल**
मंझंन	मधुमालती	संवत् 1602
उसमान	चित्रावली	संवत् 1670
शेखनवी	ज्ञानद्वीप	संवत् 1676
न्यामत खाँ 'जान'	कनकावति	संवत् 1675
	कामलता	संवत् 1678
	मधुकर मालती	संवत् 1691
	कथा रत्नावति	संवत् 1691
	छीता	संवत् 1693
कासिमशाह	हंसजवाहिर	संवत् 1793
नूर मुहम्मद	इंद्रावति	संवत् 1801
	अनुराग बाँसुरी	संवत् 1821
निसार	यूसुफ जुलेखा	संवत् 1847
ख्वाजा अहमद	नूरजहाँ	संवत् 1962
शेख रहीम	प्रेमरस	संवत् 1972
कवि नसीर	प्रेमदर्पण	संवत् 1974

सूफी काव्य परंपरा में महत्वपूर्ण कवि और उनकी रचनाएँ :

• **मूल्ला दाऊद**–मुल्ला दाऊद या मौलाना दाऊद की रचना 'चंदायन' से सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा का आरंभ माना जाता है । यह लेर या लोरिक तथा चन्दा की प्रेमकथा है । विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें भारतीय प्रेमाख्यानों की प्रेमकथा है । विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें भारतीय प्रेमाख्यानों की विभिन्न प्रवृत्तियों का निरूपण हुआ है । इसमें भी सूफी रचनाओं के समान लोक–प्रचलित विश्वासों के साथ–साथ परमतत्व से प्रेम की व्यंजना की गई है । 'चंदायन' का एक छन्द इस प्रकार है :

''पियर पात जस बन जर, रहेऊँ काँप कुँभलाई ।
विरह पवन जो डोलेउ, टूट परेउँ घहराई ।।''

• **कुतुबन**–कुतुबन ने चौपाई –दोहे के क्रम में 'मृगावती' की रचना (संवत् 1558) में की । इसमें चन्द्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेमकथा का वर्णन है । इस कहानी के माध्यम से कवि ने प्रेममार्गी के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत प्रेम का स्वरूप दिखाया है । बीच–बीच में सूफियों

की शैली पर बड़े सुंदर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास है । ग्रंथ की परिणति शांत रस में दिखाई गई है :

रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई । कुलवंति सत सों सति भई ।।

बाहर वह भीत वह होई । घर बाहर को रहै न जोई ।।

बिधि कर चरित न जानै आनू । जो सिर जा सो जाहि निआनू ।।

• **मंझन**–मंझन ने (संवत् 1545) 'मधुमालती' की रचना की है । मधुमालती नाम की अन्य रचनाओं का भी पता चलता है । लेकिन मंझन कृत मधुमालती नाम की अन्य रचनाओं का भा पता चलता है । लेकिन मंझन कृत मधुमालती जायसी के पद्मावत के पाँच बर्ष बाद रची गई । जायसी ने अपने पूर्ववर्ती सूफ़ी प्रेमाख्यानक ग्रंथों का उल्लेख करते हुए जिस मधुमालती का नाम लिया है, वह मंझन की रची हुई नहीं है । इस ग्रंथ में कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र राजकुमार मनोहर का महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती के साथ प्रेम और पारस्परिक वियोग की कथा है । इस रचना में विरह-कथा के साथ आध्यात्मिक तथ्यों का निरूपण सुंदर ढंग से लिया गया है ।

• **मलिक मुहम्मद 'जायसी'**–जायसी सूफी साधकों और कवियों के सिरमौर माने जाते हैं । इस कवि की रचना–'पदमावत' (सन् 1520 ई०) में मानी गई है –आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस कृति के संबध में लिखा है–''जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है 'पद्मावत', जिसको पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था । क्या लोकपक्ष में, क्या आध्यात्म पक्ष में दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है ।' इस कृति में राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की पद्मावती के प्रेम का वर्णन किया गया है । प्रेमगाथा परंपरा की इस प्रौढ़ कृति में इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय देखते ही बनता है ।

• **उसमान**–कवि उसमान ने 'चित्रावली' की रचना सन् 1613 ई० में की थी । इसका कथानक कल्पनाश्रित है । इसमें नेपाल के राजकुमार सुजान के चित्रावली के साथ विवाह का वर्णन अत्यंत सरस रूप में हुआ है । रचनाकार अपने रचना विधान में जायसी से प्रभावित रहा है । इसमें सूफी और सूफी प्रेमाख्यानक इतर काव्य की परंपराओं और काव्य-रूढ़ियों का सुंदर प्रयोग हुआ है ।

2.3.7 प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ :

ज्ञान के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है । रहस्यवाद अपनी प्रकृति से दो प्रकार का होता है । (1) साधनात्मक रहस्यवाद, (2) भावनात्मक रहस्यवाद ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार ''हमारे यहाँ का योगमार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है । यह अनेक अप्राकृतिक और जटिल अभ्यासों द्वारा मन को अव्यक्त तथ्यों का साक्षातकार कराना तथा साधक को अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कराने की आशा देता है । तंत्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद हैं, पर निम्न कोटि के । भावनात्मक रहस्यवाद की भी कई श्रेणियाँ है, जैसे भूद-प्रेत की सत्ता मानकर चलनेवाली भावना स्थूल रहस्यवाद के अंतर्गत होगी । अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलनेवाली भावना से सूक्ष्म और उच्चकोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है ।''

भारतीय भक्ति का सामान्य स्वरूप रहस्यमय नहीं । यही कारण है कि भारत में भक्ति के क्षेत्र में रहस्यधर्मी माधुर्यभाव का अधिक प्रचार नहीं हुआ । पर सूफियों में यह रहस्यात्मक माधुर्य भाव व्यापक स्तरपर दिखाई पड़ता है । इन्हीं के प्रभाव से सगुण भक्तिधारा के कृष्णाश्रयी शाखा में इस भाव की स्वीकृति मिली । जिस प्रकार सूफियों का प्रभाव भारतीय भक्तिसाहित्य के रचनाकार पर पड़ा उसी प्रकार सूफी भी यहाँ के साधनात्मक रहस्यवाद से प्रभावित हुए ।

सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य की रचना प्रबंध रूप में की गई है । आलोचकों के लिए यह समस्या का विषय है इस काव्य को प्रबंध काव्य के किस रूप के अंतर्गत रखा जाए । इन्हें कभी फारसी प्रबंध के अंतर्गत रखा गया तो कभी भारतीय कथा-काव्य

की परंपरा में । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका संबंध फारसी की मसनवियों से माना है । उल्लेखनीय बात यह है कि भाषाशैली और संस्कृति का आपसी संबंध बड़ा गहरा होता है । सूफी साधक लोक जीवन की कथा को आधार बनाकर मूल विषय–मानवीय प्रेम–को प्रतिपादित करना चाहते हैं । उन्होंने हिन्दू घरानों की कहानियों को फारसी की काव्य–शैली में ढाला । सूफी साधकों की उदार–दृष्टि काव्य–रूप के चयन में भी इसी उद्देश्य से परिचालित होती जान पड़ती है । सिद्धांत, मत, कथानक रूढ़ियों के संदर्भ में उन्होंने भारतीय–अभारतीय तत्वों की जो मिलावट की है, वह प्रयोजन–सापेक्ष थी ।

सूफ़ी प्रेमाख्यानक कवियों ने विविध काव्य–शैलियों का संदर्भगत और विषयानुरूप प्रयोग किया है । लोक–रंगत के कारण वस्तु–वर्णन प्राय: इतिवृत्तात्मक, अभिधापरक शैली में किए गए है । लोक जीवन के विविध रूपों में अत्युक्ति, अतिशयोक्ति आदि का सुंदर प्रयोग किया गया है । मुख्य रूप से प्रकृति, नारी सौंदर्य, विरह–वेदना के प्रसंगों में इस शैली प्रतीकात्मक है । लौकिक प्रेम–व्यापारों के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना करनेवाले ये प्रेमाख्यान काव्य प्रकृति से कथारूपक हैं । सभी आख्यानों के ऐतिहासिक, काल्पनिक पात्र प्रतीकात्मक भूमिका में सामने आते हैं ।

सूफ़ी जनमानस के कवि हैं । अत: जन–मानस की लौकिक–पारलौकिक आकांक्षाएँ सूफी साहित्य में अभिव्यक्ति हुई हैं । प्रस्तुत के माध्यम से अप्रस्तुत का संकेत या प्रस्तुत के साथ–साथ अप्रस्तुत का संकेत इनके काव्यों में दिखाई पड़ता है–सांसारिक जीवन क्षणभंगूर है, अत: उसका पूर्ण भोग, (द्वन्द्व से ऊपर उठकर) जीवन खेल–खेलना और लोकोत्तर ईश्वर तत्व की ओर बढ़ना आदि ।

2.3.8 सारांश : मूल्यांकन :

निर्गुण प्रेममार्गी काव्य–धारा में सूफी प्रेमाख्यानों का पल्लवन और विकास जिस क्षेत्र में हुआ वह भक्ति–आंदोलन का मुख्य केन्द्र रहा है । हिन्दी की मध्ययुगीन कविता का यह रूप राजाश्रय और धर्माश्रय को छोड़कर लोकाश्रय में पनपा । लोकभूमि में पोषित पल्लवित होने के कारण ही इसमें लोक मन की साहित्यिक अभिव्यक्ति हुई । मानवता के सामने भावों को अपने प्रेमाख्यानों द्वारा चरितार्थ कर सूफी कवियों ने एक संवाद सेतु निर्मित किया, जहाँ व्यक्ति, संप्रदाय, मत, सिद्धांत, वाद की खाइयाँ अपने आप पट जाती हैं । इन्होंने मनुष्य के भीतर छिपे प्रेम की शक्ति को पहचाना और युगीन–आवश्यकता के जमीन पर उसका प्रतिपादन किया ।

''मानुष प्रेम चराउ बैकुंठी ।
नाहिं तो काह छार इक मूठी ।।''

सूफी कवियों जैसी उदार प्रकृति इस जीवन–शक्ति को उद्‌घाटित करने में समर्थ हो सकती है । द्वैत दृष्टिकोण में यह संभव नहीं । उन्होंने न केवल अपने आख्यानों द्वारा बल्कि अपने मत, सिद्धांत, रहस्यानुभूति, काव्य–रूप, भाषा एवं अभिव्यक्ति के नाना रूपों द्वारा मनुष्य दृष्टि से ही सिद्ध किया जा सकता था । परंपरा को रूढ़ि समझकर त्यागने की भूल करनेवालों के लिए यह कविता एक चुनौती है । परंपरा और युगधर्म के समन्वय से ही सूफी रचनाकारों की कविता कालजयी हो गई । सूफी काव्यधारा प्रेमभाव की सरसता एवं जनधार्मिता के कारण ही व्यापक स्वीकृति पा सकी ।

2.3.9 अभ्यास प्रश्न :

1. 'सूफ़ी' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए सूफ़ी प्रेमाख्यानों के वैशिट्य को रेखांकित कीजिए ।
2. जायसी पूर्व और जायसी उत्तर सूफ़ी प्रेमाख्यानक परंपरा पर प्रकाश डालिए ।
3. सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य की मूल प्रेरणा पर विचार कीजिए ।

4. सूफी काव्यधारा क्या है और इसकी मुख्य विशेषताएं क्या हैं? इस धारा के कवियों ने किस प्रकार के विचार और भावनाओं को साहित्यिक रूप में व्यक्त किया?
5. सूफी काव्यधारा ने कैसे भारतीय समाज और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई? इसका समाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव क्या रहा?
6. सूफी काव्यधारा का साहित्यिक विकास किस प्रकार से हुआ? इसके विकास में क्या-क्या प्रमुख कारक थे?
7. सूफी काव्यधारा का पहला कवि किसे माना जाता है ?
8. सूफी काव्यधारा के प्रमुख कवि कौन-कौन हैं तथा इस साहित्य में उनका क्या योगदान रहा ?

संदर्भ ग्रंथसूची

- हिंदी सूफी काव्य का समग्र संकलन, डॉ. शिवसहाय पाठक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2023.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.
- हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-2015.
- हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2006.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेंद्र, मयूर पेपरबैक्स, नोएड़ा-2004.
- हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.

2.4 राम भक्ति काव्यधारा

इकाई की रूपरेखा

2.4.0 उद्देश्य

2.4.1 प्रस्तावना

2.4.2 रामभक्तिकाव्य परंपरा

2.4.3 आचार्य रामानन्द और राम

2.4.4 रामभक्ति का स्वरूप–विकास

2.4.5 रामकाव्य परंपरा

2.4.6 रामभक्ति काव्य की विशेषताएँ

2.4.7 सारांश/निष्कर्ष

2.4.8 अभ्यास प्रश्न

2.4.0 उद्देश्य :

- रामभक्ति काव्य का परिचय मिलेगा;
- रामभक्ति काव्य परंपरा को समझ सकेंगे;
- रामभक्ति साहित्य में लोक मंगल की भावना को जान जाएँगे;

2.4.1 प्रस्तावना :

पहले कहा जा चुका है कि भारतीय साहित्य में मध्यकाल अंधकार का नहीं प्रकाश का काल है । हिन्दी का भक्तिकाव्य इसे अधिक अच्छी तरह प्रमाणित करता है । उत्तर भारत का जन–जीवन जब अत्यंत अस्तव्यस्त, विसंगत और दु:खी था, जब राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सारी परिस्थितियाँ जन–जन को परेशान कर रही थीं, तभी इस भक्तिकाव्य ने संजीवनी का काम किया । इस दृष्टि से रामभक्ति काव्य का विशेष महत्व है । तुलसीदास ने तो श्रीराम के जीवन को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित करके निराश जनता को नई आशा, आकांक्षा, जिजीविषा और जिगीषा की प्रेरणा दी । रामभक्ति धारा में लोकजीवन को सार्थकता मिली । लोकभाषा हिन्दी को प्रतिष्ठा मिली । प्राचीन रूढ़ियों को नई व्याख्या और नई उमंग मिली । चिंतन–परंपरा में परिवर्तन आया । समता, भाईचारा, मानवता का संदेश फैला । दक्षिण भारत के महान वैष्णवाचार्यों के द्वारा प्रेरित थी, उसे उत्तर भारत के रामानंद जैसे उदारवादी आचार्यों के द्वारा नई शक्ति और रूप मिला । रामचरित को लेकर रचे गये भक्तिकाव्य ने जन–जन के जीवन को रसार्द्र कर दिया और नई प्राण–शक्ति भर दी । आगे इस पर गहराई से विचार किया जाएगा ।

2.4.2 रामभक्ति काव्य परंपरा :

'राम' शब्द वेद में आया है । लेकिन वहाँ उसका अर्थ दूसरा है । किंतु रामचरित सुप्राचीन है और अत्यंत लोकप्रिय भी रहा है । राम भारतीय जनता के लोकनायक हैं । वे इतिहास के उज्ज्वल चरित्र हैं । प्रख्यात ईक्ष्वाकु वंश के कुलदीपक हैं । वे

पुराण–पुरुष हैं । मिथकों के केन्द्र हैं । लोककथाओं तथा शास्त्रवर्णित आख्यानों के नायक हैं । कहा जाता है कि वाल्मीकि ने इन सभी स्रोतों को समेटकर अपना आदि काव्यग्रंथ 'रामायणम्' संस्कृत में लिखा । इतना सुंदर, प्रेरक, उत्कृष्ट ग्रंथ तभी लिखाजाता है, जब उसके पीछे लंबी परंपरा होती है, विद्वानों की ऐसी मान्यता है । हजार वर्षों में राम भारत के भाव–नायक बने हुए हैं । उनकी कथा का और चरित्र का विकास होता गया है ।

आज रामकथा का मूल और मुख्य स्रोत वाल्मीकि कृत रामायण ही है । इसके कई पाठ–परंपराएँ मिलती हैं, उनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं–

1. दाक्षिणात्य पाठ (दक्षिण तथा गुजराती संस्करण)
2. गौड़ीय पाठ (गोरेसियों द्वारा संपादित संस्करण)
3. पश्चिमी पाठ (लाहौर संस्करण)

इनमें पाठ की अनेक भिन्नताएँ हैं । कुछ विद्वानों का विचार है कि मूलत: रामायण में अयोध्या काण्ड से लंका काण्ड तक था, बाद में लोक –जिज्ञासा की तृप्ति के लिए बालकांड और उत्तरकांड जोड़ गये ।

रामचरित की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इस विषय पर अनेक रचनाएँ होती रहीं । भारत की सभी भाषाओं में अनेक रामायण लिखी गईं । संस्कृत में ही रामकथा संबंधी काव्यों और नाटकों का विशाल साहित्य है । भवभूति का 'उत्तर रामचरित' सीता वनवास पर अत्यन्त मार्मिक रचना है । महाकवि कालिदास का 'रघुवंशम्' ईक्ष्वाकुवंश की कीर्ति –गाथा है, तो सीता निर्वासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया है । 'महावीर चरित', 'अनर्घराघव', 'हनुमन्नाटक' आदि ग्रंथ रामकथा को शाणित करते हैं । 'राघवविलास' जैसी रचनाएँ तो रामचरित को नया आयाम देती हैं ।

संस्कृत में रचित अध्यात्म रामायण, अद्‌भुत रामायण, आनन्द रामायण, भुशुण्डि रामायण और रामतापिनी उपनिषद आदि ग्रंथ से राम का अध्यात्म स्वरूप प्रकटित हुआ है । धीरे–धीरे राम मानव से ईश्वर के रूप में स्वीकृति पाए गए हैं ।

प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में रचित अनेक रामचरित मिलते हैं । राम ही लोकप्रियता से बौद्ध और जैन धर्म काफी प्रभावित हुए । बौद्धों ने राम को बोधिसत्व माना और जातकों में उनके चरितों का वर्णन किया । प्राकृत भाषा में रचित विमलसूरि की 'पउमचरिउ' अत्यंत लोकप्रिय रचना है । इसका संस्कृत तथा अन्य अनेक भाषाओं में रूपांतर किया गया । प्राकृत आचार्य हेमचंद्र कृत जैन रामायण, जिनदास का 'रामपुराण', पद्‌मदेव का 'रामचरित' अपभ्रंश में रचित सत्यभूदेव रचित 'पउमचरिउ' आदि अनेक ग्रंथ रचित हुए । यह अत्यंत प्रख्यात और जनप्रिय ग्रंथ हैं ।

अन्य भारतीय भाषाओं में रामकाव्य की विशाल परंपरा उठ खड़ी हुई । दक्षिण भारत में रामचरित की लोकप्रियता के प्रमाण स्वरूप तमिल में कम्बन का रामायण, तेलुगू में रंगनाथ रचित रामायण, मल्लयालम में कण्णश और केरल वर्मा के ग्रंथ, कन्नड़ भाषा में नोवेर रामायण आदि अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाएँ हुईं ।

अवधी में रचित तुलसीदास का 'रामचरित मानस' पूरे देश में ही नहीं विदेशों में भी काफी लोकप्रिय हुआ है । आज इसकी ख्याति सर्वाधिक है और यह सर्वाधिक पठित ग्रंथ है । बंगला में कृतिवास रामायण, गुजराती में गिरिधर दास की रामायण भालिण कृत 'सीता स्वयंवर' बहुत लोकप्रिय रहे । इसी प्रकार मराठी असमिया, काश्मीरी, नेपाली भाषाओं में अनेक रामचरित लिखे गए । ओड़िआ में रचित बलराम दास की 'जगमोहन–रामायण' या 'दाण्डि रामायण', सारलादास की 'बिलंका रामायण', विश्वनाथ खुण्टिया की 'विचित्र रामायण' खूब चाव से पढ़े जाते हैं ।

विदेशों में भी रामकथा का काफी प्रचार–प्रसार हुआ । चीनी, तिब्बती, काम्बोडिया, श्याम, फीजी, मरीशस आदि देशों में रामायण और 'रामचरित मानस' का विशेष पठन–पाठन होता है । नाटकों और लीला नाटकों का अभिनय भी लोगों को अच्छा लगता है ।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि रामकथा की लोकप्रियता पिछले हजार वर्षों में बराबर रही है । वह दिन–व–दिन अधिकाधिक बढ़ती ही गई है ।

2.4.3 आचार्य रामानन्द और राम :

आचार्य रामानंद उत्तर भारत के धार्मिक नेता थे । वे रामानुजाचार्य के विशिष्टद्वैत मत में दीक्षित थे । रामानंद इतने लोकप्रिय गुरु थे कि उनके बारे में यह उक्ति प्रसिद्ध हो गई है–भक्ति द्रबिड़ै ऊपजै लाये रामानन्द ।

यह कथन श्रीमद्भागवत में चर्चित भक्ति का प्राकट्य और प्रसार सदृश ही है ।

रामानंद बड़े उदार प्रकृति के आचार्य थे । वे काशी में अर्थात् विद्यानगरी में रहते थे । उन्होंने रूढ़िवाद और रक्षणशीलता को त्याग करके भक्ति का दरवाजा सबके लिए खोल दिया । तुलसी के अनुसार ''जातिपाँति पूछै नहीं कोई । हरि को भजे सो हरि का होई ।'' रामानंद की दृष्टि में ऊँचनीच, धनी–दरिद्र, पण्डित या सामान्यजन, शूद्र, नारी सब बराबर थे । उन्होंने कबीरदास को अपना शिष्य बना लिया । कुछ और नीच जाति के कहे जानेवाले साधु भी उनके शिष्य हो गए । इसीलिए रामानंद ने रामानुज के विशिष्टाद्वैत का पल्ला झाड़कर रामावत संप्रदाय की नींव डाली । उनके आराध्यदेव लक्ष्मी नारायण के बदले राम–सीता हो गए । राम नाम ही मंत्र बनगया । रामानंद की शिष्य परंपरा में तुलसी दास आए । वे रामानंद के शिष्य नरहरि आचार्य के शिष्य थे । उन्होंने वर्णाश्रम धर्म, शास्त्रविहित साधना का पक्ष लेते हुए भी कट्टरता का त्याग कर राम के चरित को आश्रयदाता के रूप में प्रस्तुत किया । तुलसी का 'रामचरित मानस' भारतवर्ष में अत्यंत लोकप्रिय हुआ । तुलसीदास की दृष्टि लोकसंग्रह और लोकमंगल की ओर थी । यही रामानंद की चिंतन की प्रेरणा थी । रामानंद ने ही ब्रह्म के उपनिषदों में वर्णित निर्गुण और सगुण रूपों में कोई भेदभाव नहीं रखा और राम को परंब्रह्म माना । मुक्ति का साधन एक ही परम पदार्थ भक्ति है । रामानंद की भक्ति पद्धति का प्रभाव रामभक्ति परंपरा में साफ दिखाई देता है । राम नाम प्रत्यक्ष फलदायक है । उनके शिष्य कबीर ने निर्गुण ब्रह्म की भक्ति की तो तुलसीदास ने परंब्रह्म का सगुण रूप श्रीराम की भक्ति की । कबीर ने कहा–

दशरथसुत तिहुँ लोक बखाना ।

राम नाम को मरम है आना ।

तुलसीदास ने प्रतिपादित किया—

जेहि इमि गावहीं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।

सोई दशरथसुत भगत हित, कोसलपति भगवान ।।

इस प्रकार तुलसीदास ने सगुण ब्रह्म के रूप में 'राम' को सर्वोच्च स्थान दिया । उनके राम ब्रह्मा, विष्णु, महेश के ऊपर हैं । सीता आद्याशक्ति हैं । लक्ष्मी से भी ऊँची हैं । उन्हें ठोस आधार दिया । कबीर ने जाति–पाँति, मूर्तिपूजा, पूजा–पाठ जैसे बाह्य आडंबरों का विरोध किया, भक्ति को दासता के प्रेम को आवश्यक बताया । अहंकारशून्य सरल, सहज, समर्पित जीवन बिताना सिखाया । 'राम रामायण' सेवन करने राम के दास बनकर रहने का उपदेश दिया । तुलसीदास ने स्वधर्मपालन, वेदविहित मार्ग विधि निषेध तीर्थ व्रत पूजा आदि सब करने के बाद श्रीराम भक्ति का वरदान माँगा । तुलसीदास ने राम को सर्वोच्च परंब्रह्म माना । सीता को आदिशक्ति और अनादि –ब्रह्म की अनंत सहपरी कहा । व्यवहार में नवधा भक्ति, दास्य भाव, अचल अनपायनी भक्ति को स्वीकार किया ।

रामभक्ति धारा का यह विकास आचार्य रामानंद के व्यक्तित्व का ही प्रभाव था ।

2.4.4 रामभक्ति का स्वरूप विकास :

इतिहास में प्रसिद्ध ईक्ष्वाकु वंश का सर्वोत्तम राजा दशरथपुत्र रामचन्द्र मूलत: मानव तथा पुरुषोत्तम के रूप में दिखाई पड़ते हैं । वाल्मीकि के ग्रंथ में वे इसी रूप में आए हैं । वहाँ राम का चरित मानव चरित ही है । जैसे–जैसे भगवत धर्म और

वैष्णव भक्ति–भावना का प्रचार–प्रसार हुआ वैसे–वैसे वासुदेव कृष्ण और राम को ईश्वरत्व की स्वीकृति मिलती गई । वेदों–उपनिषदों में विष्णु सर्वोच्च देवता के रूप में आते हैं । जब से अवतारवाद का सिद्धांत स्वीकृत हुआ तभी से विष्णु के अवतार के रूप में राम और कृष्ण को प्रतिष्ठा मिल गई । अवतार 28 माने गए परंतु उनमें दस प्रमुख हुए । इनमें राम स्वीकृत हुए । ईस्वी सन् के प्रारंभ में राम को ईश्वर का अवतार मान लिया गया ।

- **दक्षिण भारत में रामभक्ति :**

दक्षिण के प्रख्यात आळवार संतों में राम–भक्ति प्रचलित थी । 'नालियर प्रबंध' में राम की कथा है । कवि कुलशेखर (7 वीं शताब्दी) ने रामभक्ति संबंधी पद लिखे हैं । ग्यारहवीं शताब्दी में रामभक्ति अधिक लोकप्रिय हुई और अनेक स्तुति–स्तोत्र लिखे गए । रामानुज के श्री संप्रदाय में राम विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकृत हुए हैं । रामभक्ति की संहिताएँ लिखी गईं । श्रीसंप्रदाय के उपनिषदों में राम प्रतिपादित हुए । महाराष्ट्र के नामदेव और त्रिलोचन राम भक्ति के पक्षधर थे । ओड़िशा के मंदिर और मूर्तिकला के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसा की 7 वीं शताब्दी में निर्मित स्वर्णजालेश्वर मन्दिर में राम द्वारा 'सप्तशाल' और वाली का वधवाला दृश्य मूर्तियों में उकेरा गया है । (पाणिग्राही कृष्णचन्द्र–हिस्ट्री ऑफ ओड़िशा किताब महल, कटक 1986 पृ० 321) मध्वाचार्य के शिष्य नरहरि तीर्थ जो बारह वर्षों तक ओड़िशा में थे और राजनेताओं पर प्रभावशाली थे । अपने गुरु के लिए रामसीता की मूर्तियाँ लेकर गए थे । (वही पृ० 324) भुवनेश्वर के अनन्तवासुदेव मंदिर (निर्मित ईस्वी 1278) में राम–सीता–लक्ष्मण –हनुमान की मूर्तियाँ हैं । (वही पृ० 323) जयदेव (12वीं शती) के 'गीतगोविन्द' और पृथ्वीराज रासो' के दशवतार वर्णन में राम के अवतार का जिक्र है ।

लेकिन 15 वीं शताब्दी में रामानंद द्वारा ही समग्र उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार हुआ । तुलसीदास के द्वारा वह सर्वाधिक लोकप्रिय बन गई । रामानंद राघवानन्द (रामानुज संप्रदाय) के शिष्य थे । अतएव, रामभक्ति की एक लहर दक्षिण से उत्तर आई, ऐसा माना जा सकता है ।

2.4.5 रामकाव्य परंपरा :

'पृथ्वीराज रासो' में दशवतार के वर्णन प्रसंग में राम का भी संक्षिप्त वर्णन है ।

कवि ईश्वरदास की दो रचनाएँ मिलती हैं–'भरत मिलाप' और 'अंगद पैंज' । भरत मिलाप में भावात्मकता का सुंदर निर्वाह हुआ है । अंगद पैंज में वीररसपूर्ण वर्णन है ।

- **तुलसी दास**

रामकाव्य परंपरा में तुलसीदास (1532) का महत्वपूर्ण स्थान है । जनश्रुति के अनुसार तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम दुबे था और माता हुलसी थीं । पता चलता है कि बचपन में तुलसीदास को मातापिता और अभिभावकों का संरक्षण नहीं मिला । ''मातु पिता जग जाइ तज्यो जनमि, करम बिनु विधिहु सृज्यो अवडेरे''(विनयपत्रिका) से प्रमाणित होता है कि वे बचपन में मारे–मारे फिरते थे । एक दिन गुरु नरहरि दास (जो रामानन्द के शिष्य थे) ने उनको देखा तो साथ ले गए । तुलसीदास की शिक्षा उन्हीं की देखरेख में हुई । वे जल्दी ही वेद–वेदांत, पुराण –शास्त्रों के पारंगम हो गए । उनका विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावती से हुई । एक बार उनकी पत्नी पिता के घर गई थी । तुलसीदास वहीं पहुँच गए । अधिक आसक्ति को देख पत्नी ने फटकारा–''लाज न लागत आपको दौरे आए हु साथ ।'' तुलसीदास उल्टे पाँव लौट आए । सांसारिक जीवन से दृढ़ वैराग्य हो गया । अब वे सन्यासी होकर प्रयाग, काशी और अयोध्या में रहने लगे ।

तुलसीदास की अनेक रचनाएँ है, उनमें से मुख्य हैं–रामचरित मानस, विनयपत्रिका, कवितावली, दोहावली, गीतावली इत्यादि । 'मानस' उनका अत्यंत प्रसिद्ध ग्रंथ है ।

तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक परिस्थिति में त्रस्त और हताश जनता के सामने मर्यादापुरुषोत्तम राम के आदर्श जीवन–चरित को भावात्मक तथा विवेक सम्मत रूप में प्रस्तुत करके जन–जन को जीने का भरोसा दिलाया ।

राम–राज्य की संकल्पना को आगे बढ़ाया । जीवन–संग्राम में डटे रहने की प्रेरणा दी । विश्वासमयी रागात्मक वृत्तियों को पल्लवित करने हेतु रामभक्ति का सहारा लिया । नाना पुराण निगमागम सम्मत बनाया ।

तुलसीदास की रचनाओं में मानवी भावों की विविधता दर्शनीय है । यह उनकी योग्यता का प्रमाण है ।

तुलसीदास ने सभी विरोधी विचारों का समन्वय करके सबको यथास्थान बिठाया । उन्होंने प्राचीन वर्णाश्रम धर्म, विचारों की अवतारणा की, लेकिन कट्टरता नहीं दिखाई । उन्होंने निर्गुण –सगुण ब्रह्म में अभेद दिखाया, शैव–वैष्णवों के झगड़े को समाप्त किया । नीरसता तथा चमत्कार का बहिष्कार किया । जीवन में सरसता, निष्ठा, धार्मिकता, कर्म–प्रेरणा भरने की कोशिश की । ग्राहस्थ्य–वैराग्य, ज्ञान–भक्ति, लोक धर्म, वेदविहित मार्ग में सामंजस्य स्थापित किया ।

तुलसीदास की कलम से रामकथा लोकसंग्रह, लोकमंगल की प्रेरणा, लोकजीवन का आदर्श, लोकभाषा का भव्यरूप शैली वैविध्य, उक्तिवैचित्र्य, प्रबंधपटुता, चरित्र–चित्रण, दार्शनिक तत्वचिंतन, काव्यात्मकता, उदार राजनीति, सुखद परिवार, विषय वासना के प्रति वैराग्य, भक्तिपूत आनन्दमय जीवन इत्यादि एक साथ जीवंत हो उठे ।

तुलसीदास ने अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं में सुंदर ग्रंथ लिखे हैं । संस्कृत और बोलचाल की भाषा का समुचित समंजन किया है ।

तुलसीदास ने रामभक्ति का राजमार्ग तैयार कर दिया । बाल्मीकि का मानव राम रामचरित मानस में परंब्रह्म बनकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश के मूलाधार बन गए । मर्यादापुरुषोत्तम भगवान के रूप में वे जन–जन के मन के अनुरूप और अपना बन गए । ''जाकि रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ।'' यह संसार सीया राममय बन गया । राम समस्त शील, शक्ति और सौंदर्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए । राम भक्ति में हरएक को अपना स्थान मिला । महाराज दशरथ की द्वैत भक्ति, कौशल्या की ज्ञान–भक्ति, सुमित्रा की उपासना भक्ति, भरत का प्रेम समुद्र आदि तुलसीदास को नाना शास्त्र पुराणों के अध्ययन करके, सबका समन्वय और सामंजस्य से मिलाया । केवट, गुह, शवरी सब को ईश्वर का सानिध्य मिलगया । तुलसीदास ने सभी विरोधियों को एक कर दिया । राम भक्ति का जहाज चला तो सब उसी पर बैठ गए । आखिर रामराज्य की स्थापना हुई । वहाँ शासन न था, दंड देने की जरूरत न थी । वहाँ राजा का स्वेच्छाचार न था, प्रजा का दुराचार न था । वह विशाल मानव धर्म था जो धर्म के आधार पर प्रतिष्ठित था । वह रामधर्म था । इसलिए सदियों के बाद भी तुलसीदास का रामचरितमानस देश–विदेश में रामभक्ति का प्रचार करता रहा है । यह सबका प्रिय–ग्रंथ बन गया है । संस्कृत के आदि काव्य का प्रसार भाषा में हुआ ।

तुलसीदास की प्रचंड प्रतिभा के बाद रामकाव्य पर किसी दूसरे बड़े कवि ने हाथ नहीं लगाया । फिरभी–कोशिश चलती रही । अग्रदास ने रामचरित की मर्यादाबंधन छोड़ 'अष्टयाम' लिखकर उसमें सरसता और माधुर्य लाने की कोशिश की थी । वे रामानंद के शिष्य थे । नाभादास ने भी वैसी एक रचना की है । वे तुलसी के समकालीन थे । 'अग्रअली' जी ने जानकी को सखी मानकर रसिकतापूर्ण रचनाएँ की हैं ।

केशवदास (1555-1617ई०) ने एक प्रबंधकाव्य 'रामचन्द्रिका' लिखी जो काफी प्रसिद्ध है । इसमें कवि की पंडिताई अलंकार प्रियता और शब्द चमत्कार दर्शनीय है । संवाद भी प्रवाहपूर्ण और सुंदर हैं पर प्रबंधात्मक रूप का सही निर्वाह नहीं हुआ है ।

भक्तिकाल में रामभक्त कवियों से प्राणचंद्र चौहान माधवदास, हृदयराम, नरहरि बारहत, लालदास और कपूरचन्द आदि की छोटी–मोटी कुछ रचनाएँ मिलती हैं । प्राणचन्द चौहान ने 'रामायण महानाटक' लिखा है, जो नाटक नहीं है, संवादात्मक प्रबंध काव्य है । माधवदास चारण की दो रचनाएँ हैं । 'रामरासो' और अध्यात्म रामायण' । अध्यात्म रामायण संस्कृत ग्रंथ से प्रभावित है । हृदयराम की 'हनुमन्नाटक' है । इसमें सीता स्वयंवर से लेकर राज्याभिषेक की कथा संवाद–शैली में वर्णित है । नरहरी बारहट की कृति 'पौरूषेय रामायण' एक प्रौढ़ कृति है और आकार में बड़ा भी है । रचनाशैली रासो ग्रंथ जैसी है । लालदास का 'अवधविलास' (1643) और कपूरचन्द द्वारा गुरुमुखी लिपि में लिखित रामायण (1646) में संक्षिप्त रामकथा

है । भाषा सरल ब्रजभाषा है ।

इसके अलावा कुछ कृष्ण भक्त कवियों ने भी राम चरित को लेकर रचनाएँ की हैं । इनमें राम का चरित्र रसिकता से प्रभावित है । मीरावाई ने निर्गुण राम का नाम लिया हैं । 'सूर सागर' में राम का प्रसंग है । पुष्टिमार्गी नन्ददास पहले रामभक्त थे और कुछ पद लिखे थे । परमानन्द दास और गोविन्दस्वामी के भी कुछ रामभक्ति संबंधी पद मिलते हैं । हितहरिवंश ने भी कुछ पद लिखे हैं ।

स्पष्ट है कि इन रचनाओं की लोकप्रियता सीमित रही है ।

2.4.6 रामभक्ति काव्य की विशेषताएँ :

हिन्दी रामभक्ति काव्य परंपरा में यद्यपि छोटे–बड़े अनेक कवि हुए हैं । फिर भी तुलसीदास की रचनाओं का सर्वाधिक महत्व है । क्योंकि जनमानस पर उन्हीं का सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ा है । हम नीचे इस काव्य परंपरा की कुछ मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करेंगे ।

• रामकाव्य ने जीवन की विशाल पट्टभूमि को स्वीकार करके हर क्षेत्र में संघर्ष करने की प्रेरणा दी है । तुलसीदास के समसामयिक जन–जीवन का सोचनीय और करुणा चित्र 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' आदि में मिलता है । उस समय लोग गरीबी, भूखमरी, बेरोजगारी अत्याचारों और बीमारियों से परेशान थे । तुलसीदास लिखते हैं–

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भली,

बनिक को बनिज न, चाकर को चाकरी ।

कर्महीन लोग सब सीद्यमान सोचबस,

कहैं एक एकन सों, कहाँ जाई का करीं ।।

जब दरिद्र दशानन सबको सता रहा था, तो रामाश्रय ही जरूरी था । ऐसी निराशा और हताशा की स्थिति में श्रीराम के लोक रक्षक रूप का ध्यान करके लोगों को दु:ख सहने और विषम जीवन से संघर्ष करने की प्रेरणा मिलती है ।

• उस समय देश में मुगलों का शासन चल रहा था । बादशाह और राजा–महाराजा ऐशो–आराम से जिन्दगी बिता रहे थे । उन्हें प्रजा के दु:ख दैन्य से कोई मतलब न था । तुलसीदास ने रामराज्य का चित्र खींचकर राजा–प्रजा दोनों को अपने कर्तव्य और अधिकारों के प्रति सचेत कराया । जनता में सहनशक्ति जगाई । संघर्ष करने को उत्साहित किया ।

• उस वक्त सर्वत्र विरोधी भावनाओं के झगड़े चल रहे थे । ऊँच–नीच, जाति–पाँति, धार्मिक मत–मतांतर, पारिवारिक कलह आदि से लोग परेशान थे । रामकाव्य के माध्यम से जीवन में उदारता, समन्वय, सहनशीलता, सामंजस्य का वातावरण तैयार किया गया । धार्मिक क्षेत्र में सबसे ज्यादा संघर्ष चलता था । वैदिक कर्मकांड, बाह्य आडम्बर, नाना प्रकार के धर्मानुष्ठान, शैव और वैष्णवों के झगड़े, शाक्तों और कापालिकों के चमत्कार प्रदर्शन इत्यादि द्वारा जनता संत्रस्त तथा गुमराह थी । ऐसे में रामकाव्य ने सबको इकट्ठा किया, झगड़ों का समाधान किया, राम चरित्र का आदर्श सामने रखकर जनगण को आगे बढ़ने का भरोसा दिया ।

• रामकाव्य धारा ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया । आचार्य रामानंद की उदार दृष्टि की बात कही जा सकती है कि 'भक्ति में सब भाई–भाई' यह नारा चल पड़ा । ईश्वर इस संसार के मंगल के लिए, शिष्टजनों के उद्धार के लिए, दुष्टदलन के लिए अवतार धारण करते हैं–यह विश्वास दृढ़ हुआ । 'गीता' में श्रीकृष्ण ने कहा था–

''यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजामह्यम् ।।''

तुलसी ने ठीक ऐसी पंक्तियाँ लिखीं–

जब जब हेहि धमर की ठानि

बढ़हि असुर महा अभिमानी

तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा

हरहिं सकल सज्जन भव पीरा ।

तुलसीदास एक कदम आगे बढ़कर यह कहते हैं कि दुष्टों का विनाश तो प्रभु की इच्छामात्र से हो सकता है । लक्ष्मण तो एक क्षण में असंख्य असुरों का नाश कर सकते हैं । हनुमान का तो यह बाएँ हाथ का खेल है, वे दाहिने हाथ से संतजनों को अभयदान करते हैं । अंगद भी सारी लंका की उखाड़कर समुद्र में फेंक देने की शक्ति रखते हैं । प्रभु संसार में भक्तों के हित के लिए आते हैं । वे विभीषण जैसे संतों के साहचर्य के लिए आते हैं । सुग्रीव और अन्य वानरों के सानिध्य को आते हैं । भरत जैसे प्रेम–पयोधि को मथकर प्रेमामृत निकालकर संसार में बाँटते हैं । दशरथ का भावात्मक स्नेह, कौशल्या मान, लक्ष्मण की शक्ति, दास्य और जन कल्याण से सभी को प्रभावित करते हैं । राम शील की प्रतिमूर्ति हैं । वे सत्य और धर्म के रक्षक हैं । वे भू को स्वर्ग बनाते है । उनको बैकुंठ से भी अपनी जन्मभूमि अधिक प्रिय है । राम जैसे ईश्वर सर्वदा मानव का सहायक, रक्षक और आश्रय है । ऐसी रामभक्ति ने जन–जन में यह हिम्मत जगायी है ।

- रामभक्ति से राम संतुष्ट होते हैं । हर परिवार राम परिवार से आश्वस्त होता है । दुराज्य को रामराज्य बनाने का प्रयास करना है । हर समाज अपनी विसंगतियों को दूर कर धर्मविहित मार्ग में चलता है ।

- रामभक्ति जीवन में नवधा भक्ति का सरल साधना–पथ प्रशस्त करती है । व्यक्ति जीवन को विधि–सम्मत, सरल, सार्थक बनाता है । राम का नाता ही सर्वोच्च है । स्वधर्म पालन सबसे बड़ा कर्तव्य है ।

- रामभक्ति काव्य की साधना लोकमंगल है, उसका लक्ष्य लोकसंग्रह है । वह लोक और वेद का लोकधर्म और वैदिक धर्म का, लोक जीवन और सुसंयत शात्रानुमोदित जीवन का समन्वय करती है ।

- सबसे बड़ी बात है कि भक्ति परंपरा और विशेष रूप से रामभक्ति परंपरा ने लोकभाषा (अवधी, ब्रज) को अपनायी है । इससे सदियों के भारतीय ज्ञान और दर्शन के तत्व जन–जन तक पहुँचा पाए हैं । भारतीय संस्कृति की प्रकृति को साधारण लोग पहचान पाते हैं । रामचंद्र शुक्ल कहते हैं कि गाँवों के किसान भरत के भातृप्रेम को सराहते हैं । लोग हनुमान को भगवान का महान भक्त मानते हैं । मनुष्य ही नहीं, बनचर प्राणी तक सौहार्द के पात्र बन जाते हैं ।

तुलसीदास ने तत्कालीन काव्यों और लोक में प्रचलित अनेक छंदों और पदों का प्रयोग करके रामकथा को अधिक लोकप्रिय बनाया है, दोहा–चौपाई–छंदों में लिखित 'रामचरित मानस' सर्वत्र गाया जाता है । रामचरित भारतवर्ष के कोने–कोने में उसी प्रकार लोकप्रिय है, जैसे कृष्ण का चरित ।

- रामकथा को बहुआयामी बलदेने वाले रचनाकार हैं, तुलसीदास । उन्होंने दर्शन, साहित्य, धर्म, समाज तथा परिवार आदि रामकथा का आदर्श दिखाकर इसे हरयुग के लिए प्रांसगिक बना दिया ।

2.4.7 सारांश :

रामभक्ति काव्यधारा तीन रूपों में प्रवाहित हुई–

(1) बौद्धों तथा जैनियों के द्वारा रचित रामकाव्य

(2) रसिक–सम्प्रदाय के कवियों का रामकाव्य,

(3) नैतिकमूल्यों पर आधारित राम–भक्त कवियों की मर्यादावादी

परंपरा (इन तीन रूपों में सर्वाधिक लोकप्रिय हुए राम भक्त कवि, और इनमें भी तुलसीदास । तुलसीदास भक्ति को लोककल्याण के अहं के परिष्कार का माध्यम मानते हैं लेकिन उपदेशक की भूमिका में नहीं जाते हैं । रचना में उपदेश तो है पर रामकथा के अंतर्गत ही । कवि की ओर से उसे आरोपित नहीं किया गया है । कवि का तो एक ही उपदेश है–हरि पद में अनुराग, नवधा भक्ति में डूबकर तन्मयता की प्राप्ति, नैतिक–मूल्य भावना से सुधार–परिष्कार –विस्तार । भारत के राममय होने का कारण भी यही है कि संतकवि तुलसीदास ने परंपरा के अमृततत्व को उसमें भर दिया है ।

2.4.8 अभ्यास प्रश्न :

1. राम काव्य परंपरा का परिचय दीजिए ।
2. रामभक्ति का स्वरूप निरूपण कीजिए ।
3. रामकाव्य परंपरा में तुलसी का महत्व प्रतिपादित कीजिए ।
4. रामभक्ति काव्यधारा क्या है और इसका महत्व क्या है?
5. रामभक्ति काव्यधारा के प्रमुख रचयिता कौन थे?
6. रामभक्ति काव्यधारा का इतिहास और विकास कैसे हुआ?
7. रामभक्ति काव्यधारा के किसी विशेष काव्य शैली या रस के बारे में विस्तार में बताएं।
8. रामभक्ति काव्यधारा की मुख्य रचनाओं के बारे में बताइए ।
9. रामभक्ति काव्यधारा के अंतर्निहित संदेशों और सिद्धांतों पर चर्चा करें।
10. रामभक्ति काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए ।

संदर्भ ग्रंथसूची

- भक्तिकाल: हिंदी साहित्य का स्वर्णकाल, , डॉ. आरती कुमारी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2019.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.
- हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-2015.
- हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2006.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेंद्र, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा-2004.
- हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.

2.5 कृष्णभक्ति काव्यधारा :

इकाई की रूपरेखा

2.5.0 उद्देश्य

2.5.1 प्रस्तावना

2.5.2 कृष्ण भक्ति का विकास

2.5.3 कृष्णभक्ति का स्वरूप

2.5.4 अष्टछाप के कवि का परिचय

2.5.5 कृष्णभक्ति काव्य की प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ

2.5.6 सारांश : मूल्यांकन

2.5.7 अभ्यास प्रश्न

2.5.0 उद्देश्य :

इस इकाई को पढने के बाद आप

- कृष्ण के मिथकीय व्यक्तित्व के विकास को समझ सकेंगे;
- भक्ति–चिंतन और संवेदना के आधार पर कृष्ण काव्य का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- कृष्णकाव्य के संदर्भ में मध्यकालीन समाज में कृष्णलीला के प्रभाव समझ सकेंगे;
- अष्टछाप कवियों का परिचय जान सकेंगे;

2.5.1 प्रस्तावना :

कृष्णभक्ति काव्य परंपरा एक लंबी अवधि को पार करता है । कृष्ण का व्यक्तित्व प्राचीन है और उसमें परिवर्तन होते रहे हैं । इतिहास, गाथा, पुराण, मिथकीय जगत् सब उसमें सम्मिलित हुए हैं । महाभारत में वे सूत्रधार की भूमिका में हैं और यह उनकी असंदिग्ध स्वीकृति है : मध्यकाल तक आते–आते कृष्ण का अवतारी रूप भारतीय भाषाओं की रचनाओं में स्थापित हुआ । भागवत् को भक्ति का प्रस्थान ग्रंथ स्वीकार किया जाता है जहाँ कृष्णलीला के उत्स मौजूद हैं । लगभग इसी समय छठीं–नौवीं शताब्दी के बीच तमिल आलवार संतों को दिव्य प्रंबधम् है जहाँ कृष्ण भक्ति को पूरी राममयता में प्रस्तुत किया गया । पुराणों में कृष्ण का मानवीकरण को पूरी रागमयता में प्रस्तुत किया गया । पुराणों में कृष्ण का मानवीकरण भक्तिकाव्यों को नयी दिशाओं में अग्रसर करता है और उसे व्यापकता मिलती है । जयदेव से लेकर अष्टछाप कवियों, सूरदास आदि तक इसकी लीला का प्रसार है । आचार्यों ने कृष्ण भक्तिकाव्य को बौद्धिक आधार दिया, पर कवियों ने उसे संवेदन–संसार में विलयित करने का प्रयत्न किया ।

2.5.2 कृष्णभक्ति का विकास :

भारतीय परंपरा में राम और कृष्ण ऐसे दो चरित्र हैं, जिन्होंने संपूर्ण रचनाशीलता को गहरे स्तर पर प्रभावित किया । उन्हें विष्णु के अवतार के रूप में देखा गया और भारतीय समाज में उन्हें व्यापक स्वीकृति मिली । माना जाता है कि राम त्रेतायुग के अवतार हैं और कृष्ण द्वापर युग के । पर विचार योग्य बात यह है कि कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास कुछ चरणों में हुआ और मध्यकाल तक आते–आते उनमें इतिहास के साथ गाथा का संयोजन ऐसा हुआ कि उन्हें 'सोलह कला के अवतार' कहा गया । भारतीय रचनाओं में कृष्ण के बाल रूप से लेकर महाभारत तक उनके व्यक्तित्व का उपयोग किया गया और वे ऐसे चरित्र हैं जो केवल साहित्य तक सीमित नहीं, बल्कि नृत्यकला, संगीतकला, चित्रकला, मूर्तिकला आदि समग्र रचना–संसार में उनकी उल्लेखनीय उपस्थिति है । कृष्ण का चरित्र इतिहास के लंबे प्रवाह में रूपातंरित होता रहा है और महाभारत से लेकर पुराणतक उन्होंने जो स्वरूप ग्रहण किया, उससे उनका बहुरंगी व्यक्तित्व निर्मित हुआ । इसे कवियों ने अपने ढंग से ग्रहण किया ।

- **अवतारवाद और मानवीकरण :**

यद्यपि ऋग्वेद में कृष्ण के नाम का उल्लेख मिलता है और वैदिक युग में इन्द्र देव के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उनको देखा गया है । पर वास्तविकता यह है कि महाभारत में कृष्ण के मानवीकरण का जो प्रयत्न हुआ है वह रचनाशीलता की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है । इतिहास में, भारतीय समाज में कई प्रकार के तत्व संयोजित हुए, जिन्होंने कृष्ण के रूपायित होने में अपने प्रभाव का परिचय दिया । जब रचनाओं में कृष्ण को केन्द्रीयता मिली, तब उनके चारों ओर एक समग्र गाथा–संसार निर्मित हो चुका था । इतिहास के बिन्दु पृष्ठभूमि में चले गए थे और लोगमानस ने उन्हें अपना प्रिय आराध्य स्वीकारते हुए उनमें कई ऐसे तत्वों का प्रवेश करा दिया था, जिसमें लोक उपादानों और कल्पना की भूमिका होती है । वे इतिहास से चलकर एक गाथा पुरुष बने और उनके चारों ओर एक मिथकीय संसार निर्मत हुआ ।

अवतारवाद के विकास में नर और नारायण की भूमिका महत्वपूर्ण है । परिकल्पित देवत्व की विश्वसनीयता के लिए यह आवश्यक है कि पृथ्वी पर उसका अवतरण हो, नारायण नर रूप में अवतरित हो । इसके लिए तर्क दिया गया कि जब मानवमूल्य और मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं, अत्याचार–अनाचार बहुत बढ़ जाते हैं, तब संसार में सत्य की प्रतिष्ठा के लिए देव का मानव रूप में अवतरण होता है । गीता में इसे कृष्ण से ही कहलवाया गया ; ''यदा यदा ही धर्मस्व ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मांन सृजाम्यहम् । परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।'' महाभारत एक विकसनशील महाकाव्य माना जाता है और ई० पू समय में उसका रूप स्थिर हुआ । वहाँ कृष्ण सूत्रधार हैं, यथार्थ की धरातल पर । उनका प्रयत्न है कि पांडव–कौरव के बीच संघर्ष न हो और इसे टालने की वे भरसक चेष्टा करते हैं । वे युद्ध के विनाशकारी रूप को समझते हैं, पर युद्ध जब आ ही गया है तो वे पाण्डवों के साथ हैं । जिनकी विजय में उनकी भूमिका असंदिग्ध है । कोई और साधारण चरित्र होता तो उसकी नैतिकता को लेकर प्रश्न उठाए जा सकते हैं कि आखिर कृष्ण ने ऐसा

क्यों किया ? पर विचारणीय तथ्य यह है कि कृष्ण यथार्थ और वास्तविकता की भूमि पर उपस्थित हैं और वे जानते हैं कि कोरे आदर्शवाद से युद्ध जीता नहीं जाता । यदि 'गीता' महाभारत का अंश है तो कृष्ण दो हैं–महाभारत के सूत्रधार कृष्ण और 'गीता' के परमज्ञानी कृष्ण ।

- **ब्रह्म का सगुण रूप :**

कृष्ण यथार्थ की भूमि पर उपस्थित नायक हैं । परिवर्तित समय का वे बोध कराते हैं । कवियों ने जब उनका उपयोग रचनाओं में किया तब उन्हें पुन:सृजित करने का प्रयत्न किया । रचनाओं में कृष्ण का सुदर्शन चक्रधारी और महाभारत का सूत्रधार रूप परिपार्श्व में चले गए । यदि कहीं पर साहित्य में उनका यह रूप मिलता है तो वर्णनात्मक ढंग से । इसके स्थान पर उनके बालरूप, गो–चारण, गोकुल प्रसंग, वृन्दावन बिहार, गोप–गोपी साहचर्य, रामलील, राधा–प्रेम आदि प्रमुख रूप में आ गए । भागवत को ब्रह्मसूत्र, उपनिषद, गीता के क्रम में चतुर्थ प्रस्थान कहा गया है, भक्ति का प्रस्थान ग्रंथ वही है । पुराणों में–कृष्णलीला का वर्णन विस्तार से आया है परंतु ब्रह्मवैवर्त में राधा की उपस्थिति है । भागवत में राधा का न होना आश्चर्य की बात है और विद्वान चिंता में पड़जाते हैं कि ऐसा क्यों हुआ कि कृष्ण –प्रिया राधा यहाँ अनुपस्थित हैं । कई तर्कों में से एक यह है कि राधा आभीरों की प्रिय देवी हैं । वे पश्चिम से चलकर उत्तर भारत आईं । जहाँ भागवत की रचना हुई, वह दक्षिण का भाग उस रूप माधुरी–संपन्न नारी व्यक्तित्व से अछूता रह गया । पर निष्कर्ष यह भी निकाला जाता है कि भागवतकार को बराबर यह एहसास है कि जिस कृष्ण लीला–गान वह कर रहा है वह नररूप धारी नारायण है और लौकिक होकर भी दिव्य है इसी से भक्ति स्थापना का उद्देश्य संपादित होता है । जीवधारियों के सुख के लिए लीला जरूरी है और देवरूप कृष्ण उसमें नर रूप में सम्मिलित होकर भी असम्पृक्त हैं । भागवत में बार–बार कृष्ण के देवत्व का उल्लेख है और एकादश अध्याय में भक्ति का विस्तृत विवेचन है । यहाँ भक्ति समाजीकृत होती है, जातिवाद की समस्याएँ टूटती हैं क्योंकि भक्ति सबके लिए है ।

2.5.3 कृष्णभक्ति :

कृष्ण भक्तिकाव्यों में कवियों की अपनी दृष्टि के अनुसार आग्रहों में आंशिक परिवर्तन तो पाए जाते हैं परन्तु समानता के सूत्र अधिक हैं । कृष्ण का मानवीकरण लीलाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ और वह भी अपनी पूरी रसमयता के साथ । यहाँ आग्रह माधुर्य भाव पर है । और कृष्ण अपनी रसिक छवि में अद्वितीय हैं । कृष्णकाव्य एक प्रकार से सगुणोपासना का आग्रह है । निर्गुण की अस्वीकृति के लिए अनेक तर्क हैं । व्यापक दृष्टि से विचार करें तो साकार–निराकार, सगुण–निर्गुण की अपनी धारणाएँ हैं । मध्यकाल में कर्मकांड –पुरोहितवाद जिस ढंग से विकृत हो रहे थे और समाज में आडम्बर मिथ्याचार आदि का प्रचार था, उससे मुक्ति का उपाय खोजते हुए विचारक निर्गुण–निराकार का आग्रह करते हैं । मूर्ति को केन्द्र में रखकर कर्मकांड उपजता है और कई प्रकार के संघर्ष भी होते हैं । इसलिए निर्गुणियों का आग्रह ज्ञान पर है । ज्ञान से विकार का नाश होता है । पर सगुण मतावलम्बियों विशेषतया कृष्ण भक्तिकाव्य के अपने तर्क हैं । उनका कहना है कि मन यों ही चंचल है, उसे स्थिर एकाग्र करने के लिए कोई आश्रय चाहिए । निर्गुण ज्ञानमार्गियों के लिए तो संभव है, पर सामान्यजन के लिए साकार सगुण रूप ही गम्य है, सहज है । इस विषय में सूरदास का तर्क है कि जो वर्णनातीत है, उसका साक्षातकार कैसा हो ? इसके लिए कोई आकार चाहिए । सूर का तर्क यही है कि निराकार को लेकर ध्यानावस्था कैसे हुआ जाय । इसलिए कृष्ण भक्त–कवियों ने कृष्ण की पूरी लीला रची, जिसमें उन्होंने मिथकीय संसार और निजधारी कथाओं का भी उपयोग किया । अपनी कल्पनाशीलता से कवियों ने कृष्ण को एक ऐसा स्वरूप दिया कि सब समरस हो सकें । कृष्ण की लीलाओं के साथ यात्रा करता हुआ । समाज यह भूल जाता है कि कृष्ण अवतारी पुरुष है, अलौकिक गुण सम्पन्न । कई बार लोग उनकी चमत्कारी लीलाओं से आश्चर्य भक्ति तो होते हैं पर भागवत की तरह कृष्ण के देवत्व का स्मरण कराना, कृष्णभक्त कवि आवश्यक नहीं मानते । उनका लक्ष्य है, कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से उनके बहुरंगी व्यक्तित्व का बोध कराना ।

- **कृष्ण की बाललीला का वर्णन :**

कृष्ण भक्ति काव्य में कृष्ण का लीलारूप प्रधान है । जिसमें कृष्ण स्वयं दूहरी–तीहरी भूमिका निभाते हैं । बाहर से देखने कृष्ण भक्तिकाव्य के संवेदन–संसार की निश्चित रेखाएँ हैं और गीति काव्य उसका प्रिय माध्यम है । वात्सल्य और शृंगार उसकी दो भाव–भूमियाँ हैं और यह निर्विवाद है कि जहाँ तक वात्सल्य का प्रश्न है कृष्णकाव्य विश्व की रचनाशीलता में प्रमुख स्थान का अधिकारी है । कृष्ण की बाललीलाओं के माध्यम से सहज वात्सल्य सौंदर्य को उद्‌घाटित करना, जिससे सब आकृष्ट होते हैं । बाल छवि का निरपेक्ष वर्णन कवियों का अभिप्राय नहीं है, इसमें उनकी अनेक प्रकार की लीलाएँ सम्मिलित हैं । नन्द–यशोदा के साथ–साथ गोकुल के ग्वालबाल, गोपियाँ सब इस सुख में निमग्न हैं । कवियों ने बार–बार यह कहा कि इस सुख के सामने तीनों लोकों का वैभव भी व्यर्थ हैं । यह गतिशील चित्र है, जहाँ बाल कृष्ण के जन्म से लेकर किशोर होने तक का दृश्य हैं : घुटुरन चलत रेणु तन मण्डित, मुख दधि लेप किए'' से माखन लीला तक के प्रसंग, कृष्ण के क्रमश: बड़े होने की सूचना मिलती हैं । उल्लेखनीय बात यह है कि कृष्ण की बाललीलाएँ सर्वत्र फैल जाती हैं और उन्हें शोभा सागर कहा गया है: ''सोभा सिंधु न अंत रही री, नंद भवन भरिपूरि उमंगि चलि ब्रज की बीथिन फिरत बही री ।'' माखनलीला और मुरली–वादन के प्रसंग कृष्ण के मनोहारी रूप को नया विस्तार देते हैं ।

- **शृंगार वर्णन :**

कृष्णभक्ति काव्य में शृंगार वर्णन अधिक मात्रा में पाया जाता है जबकि रामकाव्य में शील–मर्यादा की रेखाएँ शृंगार–भाव की सीमाएँ निश्चित कर देती हैं, पर कृष्णकाव्य अधिक खुली भूमि पर है । शृंगार वर्णन से जो रागभाव जन्म लेता और विकास पाता है, वही भक्ति के चरम बिन्दु तक जाता है, जिसे भावनामय भक्ति तथा रागानुगा माधुर्य भक्ति कहा गया है । कृष्ण भक्तों का कृष्ण के प्रति संपूर्ण समर्पण प्रचलित प्रपत्ति दर्शन का मधुरतम रूप है जहाँ भक्त अपने उपास्य की रूप–माधुरी को ही अपना प्राप्य मानता है । इस शृंगार वर्णन में जीवन का जो लोकपक्ष है, वही उच्चतम धरातल पर भक्ति है । इसलिए कृष्णभक्ति काव्य के शृंगार भाव की सही पहचान के लिए समझदारी की आवश्यकता है । कृष्णभक्ति काव्यों में कवियों ने कई जगह शृंगार का उन्मुक्त भाव व्यक्त किया, अकुंठित भाव से, जिसमें घनिष्ठ मिलन के चित्र हैं । प्रश्न यह है कि कृष्ण भक्ति काव्यों में उन्मुक्त शृंगार वर्णन और परवर्ती रीतिकालीन शृंगार वर्णन में अंतर क्या है ? भक्ति में शृंगार देह का अतिक्रमण करने की सामर्थ्य रखता है, उच्चस्तर पर आता है, पर रीतिकाल में वह देहवाद में बंदी होकर रह जाता है । उच्चतम भूमि से राधाकृष्ण रीतिकालीन काव्यों में नायक–नायिका में बदल जाते हैं । पनघट, चीरहरण, दान आदि लीलाओं में तो गोपिकाएँ इस समर्पण में सुख मानती हैं । जिस शृंगार को वे मुग्धभाव से निहारती हैं, जिसके साथ वे संचरित होती हैं, उसी के प्रति संपूर्ण राग–भाव से अर्पित होती हैं ।

- **भ्रमरगीत प्रसंग :**

कृष्ण भक्ति काव्य में भ्रमरगीत प्रसंग का विशेष महत्व है जिसका वर्णन भागवत में मिलता है । अधिकांश कृष्णभक्त कवियों ने इसका उपयोग किया है । कृष्णभक्त कवि सूरदास ने 'सूरसागर' के दशम स्कंद में भ्रमरगीत का विस्तृत वर्णन किया है । इस परंपरा में परमानंद दास ने 'परमानन्द सागर' में इसका वर्णन किया है, परंतु वास्तविकता यह है कि उन्होंने भागवत कथा का अनुसरण नहीं किया है, उन्होंने कृष्ण के मधुरगमन से लेकर भ्रमरगीत प्रसंग तक का वर्णन किया है । नंददास ने 'भंवरगीत' नामसे भ्रमरगीत प्रसंग को लेकर स्वतंत्र रचना की है । यह परंपरा आधुनिक समय में जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' तथा डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के 'उद्धवशतक' में मिलता है । भ्रमरगीत में कृष्ण भक्त कवियों ने गोपिकाओं के प्रगाढ़ प्रेम भाव को व्यक्त किया है और इसे विप्रलंभ शृंगार के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । ज्ञान का गर्व करनेवाला उद्धव गोपिकाओं को निर्गुण–निराकार की शिक्षा देकर कृष्ण से उनका ध्यान हटाना चाहते हैं । पर वे अनेक रूपों में कृष्ण का स्मरण करती है, उन्हें अपना सर्वस्व मानती हैं । निर्गुण अस्वीकार करते हुए वे भावनामय तर्क देती हैं जिन्हें सही अर्थ में तर्क भी नहीं कहा जा सकता; ''निर्गुण कौन देस कौ वासी, मधुकर हासि समुझाइ सौंह द, बूझत बात न हांसि ।'' बहुत विस्तार से वे कृष्ण

के प्रति अपने गहरे प्रेम को व्यक्त करती हैं, ''हमारे हरि हारिल की लकड़ी ।'' कृष्ण का स्मरण करते हुए गोपिकाएँ निरंतर रो रही हैं; ''निसि दिन बरसत नैन हमारे ।'' जैसे भी हो वे कृष्ण का दर्शन चाहती हैं, उसी रूप में जिसमें वे गोकुल–वृंदावन में विचरे थे । गोपिकाओं की राजा कृष्ण में कोई रूचि नहीं हैं उन्हें तो लीलाधारी कृष्ण चाहिए : ''उर में माखनचोर गड़े ।'' कृष्ण के प्रति गोपिकाओं के प्रेमभाव की मार्मिक अभिव्यक्ति–भ्रमरगीत है ।

कृष्ण भक्तिकाव्य ने भाव आश्रित तर्क के सहारे सगुण को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया और इसके लिए भ्रमरगीत प्रसंग का उपयोग किया । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इसे 'सगुण का मण्डन और निर्गुण का खण्डन' कहते हैं । पर विचार करने पर देखा गया कि इस प्रसंग में अन्य ध्वनियाँ भी हैं जो कृष्ण भक्तिकाव्य को विशिष्टता प्रदान करती हैं । इसमें नंद–यशोदा का वात्सल्य भाव भी है, जिनके लिए कृष्ण संपूर्ण आधार हैं । विचार करनेवाली बात यह है कि कृष्ण देवकी–वासुदेव का बेटा है, नंद–यशोदा ने केवल उनका पालन–पोषण किया है । पर वात्सल्य उन्हीं का वर्णित है : ''संदेसो देवकी सौं कहियो, हौं तो धाय निहारे सुत की मया करत ही रहियौ ।'' भ्रमरगीत प्रसंग में गोपिकाओं का प्रेम परीक्षित होता है और वे अडिग हैं । ऊधो से कहती हैं, अच्छा हुआ तुम आ गए, प्रेम की परीक्षा हो गई, वह और प्रगाढ़ हो गया । स्पष्ट है कि भ्रमरगीत के माध्यम से कवि मध्यकाल के ग्राम–नगर के द्वन्द्व की ओर संकेत करते हैं । सूर की गोपिकाएँ मथुरा को काजर की कोठरी कहती हैं, जो आता है 'काला मन' है । कृष्ण को गोपिकाएँ नागरी कहकर व्यंग्य करती हैं और स्वयं को भोली–भाली मानती हैं, जो ठगी गईं । ऊपर से देखने पर भ्रमरगीत में एक तरफ प्रेम जैसा लगता है, पर इसमें गोपिकाओं की अनन्य भावना के साथ कृष्ण के वृहत्तर दायित्व–बोध का संकेत भी मिलता है । भ्रमरगीत के अंत में कृष्ण गोपिकाओं के प्रेमभाव को स्वीकारते हैं ।

2.5.4 अष्टछाप के कवियों का परिचय :

कृष्ण भक्त कवियों में अष्टछाप का विशेष उल्लेख किया जाता है । वल्लभाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवादी पुष्टिमार्ग की स्थापना की थी । आगे चलकर बिट्ठलनाथ ने अष्टछाप कवियों की परिकल्पना की, जिन्हें कृष्ण सखा भी कहा गया । इनमें से चार वल्लभाचार्य के शिष्य हैं : सूरदास, कुंभनदास, परमानंद दास, और कृष्णदास । बिट्ठलनाथ के शिष्य हैं : नन्ददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भूजदास । वल्लभ संप्रदाय में अष्टछाप कवियों का विशेष स्थान है । कहा जाता है कि जब गोवर्धन में श्रीनाथ की प्रतिष्ठा हो गई, तब से भक्तिकवि अष्टछाप सेवा में संलग्न रहते थे –मंगलाचरण –शृंगार से लेकर सन्ध्या आरती और शयन तक । अष्टछाप के इन कवियों में सूरदास सर्वोपरि हैं, जिन्हें भक्तिकाव्य में तुलसी के समकक्ष माना जाता है ।

- **सूरदास**

हिन्दी साहित्य में कृष्णभक्ति की अजस्र धारा को प्रवाहित करनेवाले भक्त–कवियों में सूरदास का स्थान सर्वश्रेष्ठ है । सूरदास का जन्म 1478 ई० में और देहावसान 1583 ई० में हुआ । वल्लभाचार्य के शिष्य बनने के बाद वे चन्द्रसरोवर के समीप पारसोली गाँव में रहते थे, वहीं उनका देहावसान हुआ । सूरकाव्य का मुख्य विषय कृष्णभक्ति है । भागवत पुराण को आधार मानकर उन्होंने राधाकृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन 'सूरसागर' में किया है । उन्होंने कृष्ण चरित्र के उन भावात्मक स्थलों को चुना है जिनमें उनकी अंतरात्मा की गहरी अनुभूति पैठ सकी है । सूर ने कृष्ण के शैशव और कैशोर वय की विविध लीलओं का चयन किया है । उनकी दृष्टि कृष्ण के लोकरंजक रूप पर ही अधिक रही है । लीला वर्णन में कवि का ध्यान मुख्यत: भाव चित्रण पर रहा है । विनय और दैन्य –प्रदर्शन के प्रसंग में सूर की रचना में उच्चकोटि के भावों का समावेश है, वात्सल्य भाव के पदों की विशेषता यह है कि उनको पढ़कर पाठक के जीवन में नीरसता दूर हो जाती है । दूसरी ओर भक्ति के साथ शृंगार को जोड़कर उसके संयोग एवं वियोग पक्षों का जैसा मार्मिक वर्णन सूर ने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ हैं । वियोग के संदर्भ में भ्रमरगीत प्रसंग सूर की काव्यकला का उत्कृष्ट निदर्शन है । भ्रमरगीत में सूर ने केवल दार्शनिक और आध्यात्मिक मार्ग का ही उल्लेख नहीं किया बल्कि उसमें काव्य के सभी श्रेष्ठ उपकरण उपलब्ध कराएँ हैं ।

- **कुम्भनदास :**

कुम्भनदास (1468-1583) का चरित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में पाया जाता है । वे श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन करने जाते थे । गृहस्थ होते हुए भी वे अनासक्त थे और कृष्ण भजन में लीन रहनेवाले साधु-वृत्ति के पुरुष थे । वे श्रीनाथ जी के अनन्य भक्त थे । इसी कारण वे ब्रज भूमि से बाहर नहीं जाना चाहते थे । परंतु जब कभी ऐसा हुआ उन्हें अपार कष्ट का अनुभव हुआ । उनकी रचनाओं में पाण्डित्य की झलक नहीं है । उनके द्वारा रचित किसी स्वतंत्र ग्रंथ का उल्लेख नहीं मिलता । कुछ संकलित पद पाए जाते हैं । कुम्भनदास की पद-रचना में साहित्यिक सौष्ठव उतना नहीं है, जितना संगीत और लय का सौंदर्य है । उनके पदों में श्रीनाथ जी की सांप्रदायिक भक्ति की छाप स्पष्ट दिखाई देता है । कुम्भनदास की काव्यभाषा साधारण ब्रजभाषा है ।

- **परमानन्द दास :**

परमानन्ददास का जन्म 1493 ई० में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था । इनकी रचनाओं का प्रकाशन 'परमानन्दसागर' कीर्तन-पद-संग्रह के नाम से हुआ है । इनके पदों में भागवत की कथा का वर्णन नहीं है, उन्होंने कृष्ण के मथुरा-गमन से भँवरगीत तक के प्रसंग का वर्णन किया है । कृष्ण के ईश्वरीय पक्ष का वर्णन न करके केवल इन्होंने माधुर्य-पक्ष की लीलाओं का गान किया । इनकी प्रेमानुभूति लौकिक न होकर कृष्ण विषयक है । वियोग वर्णन में परमानन्ददास ने अद्‌भूत सफलता प्राप्त की है । राधाकृष्ण के नख-शिख वर्णन में भी इन्होंने रुचि ली है । भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा का माधुर्य, दीप्ति, कान्ति और छटा इनके पदों में सर्वत्र व्याप्त हैं । गेय पदों की रचना के साथ दोहा-चौपाई शैली का भी प्रयोग देखा जाता है ।

- **कृष्णदास :**

कृष्णदास का जन्म 1496 ई० में हुआ था । इनके बारे में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'तो सौ बावन बैष्णवन की वार्ता' में से जानकारी मिलती है । बाल्यावस्था में ही कृष्णदास ने घर छोड़ दिया था और ब्रज में आ गए थे । अपनी बुद्धि और भक्ति के कारण ये श्रीनाथजी के मंदिर में 'अधिकारी' पद पर आसीन हुए । इनकी प्रबन्ध पटुता के कारण इन्हें मन्दिर के प्रबन्ध का दायित्व ही सौंपा गया पर शुरू से सेवा और कीर्तन से इनका कोई संबंध नहीं था । कृष्णदास काव्य और संगीत के मर्मज्ञ होने के साथ सुकवि और गायक भी थे । इन्होंने बाललीला, राधा-कृष्ण प्रेम-प्रसंग, रूप-सौंदर्य आदि का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है । पर इनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं; केवल फुटकर पद ही मिलते हैं । इनके पदों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है । यद्यपि उनकी मातृभाषा गुजराती थी, फिर भी इन्होंने अध्यवसायपूर्वक ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था । उनके शृंगार के पदों में भाषा की प्रांजलता स्पष्ट देखा जा सकता है । तत्सम ललित पदावली से युक्त पदों को पढ़कर कोई यह नहीं कह सकता कि इस भक्त कवि की मातृभाषा ब्रजभाषा नहीं है ।

- **नन्ददास :**

काव्य-सौष्ठव और भाषा की प्राजंलता की दृष्टि से अष्टछाप के कवियों में नन्ददास का स्थान सूरदास के बाद ही आता है । नन्ददास का जन्म 1533 ई० में हुआ था । ये बहुमुखी प्रतिभा के भक्त कवि थे । लौकिक रागात्मक संबंधों से दूर हटकर वे सच्चे कृष्णभक्त हुए थे । 'रासपंचाध्यायी' नन्ददास की श्रेष्ठ कृतियों में गिनी जाती हैं । इसमें लौकिक और पारलौकिक प्रेम को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है । ''भँवरगीत' नन्ददास के परिपक्व दर्शन ज्ञान, विवेक-बुद्धि, तर्क शैली और कृष्णभक्ति का परिचायक काव्य है । इनकी एक दूसरी रचना 'सिद्धांतपंचाध्यायी' है, जिसमें कृष्ण के रासलीला का वर्णन पाया जाता है । नन्ददास के संपूर्ण ग्रंथ परिमार्जित ब्रजभाषा में हैं । मधुर और परिचित शब्दों का चयन कवि की विशेषता है । नन्ददास को जड़िया कहा जाता है, जिसका कारण उनका सुंदर एवं उपयुक्त शब्द-चयन है । लोकोक्ति और मुहावरों पर कवि का पूर्ण अधिकार था । संगीत -प्रवीण होने के कारण शब्दों के चयन में लय, स्वर आदि का ध्यान रखने से उनके काव्य में प्रांजलता और प्रवाह की सृष्टि हुई है ।

- **गोविन्दस्वामी :**

गोविन्दस्वामी का जन्म 1505 ई० में हुआ था । संसार से वैराग्य लेकर वे ब्रजमण्डल में आ बसे थे और वहीं रहकर भजन–कीर्तन में लीन रहते थे । वे संगीत शास्त्र का ज्ञान रखते थे । पद–रचना करके वे स्वयं उन्हें गाते थे और अन्य भक्तों को भी पद–गाना सिखाते थे । गोविन्दस्वामी ने किसी स्वतंत्र ग्रंथ का प्रणयन नहीं किया । समय–समय पर जो पद ये लिखते थे, उन्हीं का संकलन 'गोविन्दस्वामी के पद' के नाम से प्रसिद्ध हैं । मुख्य रूप से इन्होंने राधा–कृष्ण की शृंगार लीला विषयक पद–रचना की है, लेकिन उनमें से कुछ पद बाललीला के भी हैं । इनकी काव्यभाषा ब्रजभाषा है, किंतु उसमें लालित्य का अभाव पाया जाता है । सूरदास और नन्ददास आदि की रचनाओं में जो लालित्य और सैष्ठव पाया जाता है, वह इनके रचनाओं में नहीं है । संगीत के लय–स्वर की ओर इनका ध्यान अवश्य रहा है ।

- **छीतस्वामी**

छीतस्वामी (1515-1585) मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे । यौवनावस्था में ये उद्दंड और वाचाल थे, प्रौढ़ावस्था में वे गंभीर और संसार के प्रति विरक्त हो गए । काव्य और संगीत में इनकी विशेष रुचि थी । वे अपना सारा समय काव्यों में व्यतीत करते थे । छीतस्वामी का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता । कीर्तन के लिए इन्होंने जो पद–रचना की, वही पदावली के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिसमें लगभग 200 पद संकलित हैं । उनके पदों में ब्रजभाषा का पर्याप्त लालित्य है । यद्यपि इनकी कविता साधारण कोटि की है, फिर भी भक्ति–भाव से परिपूर्ण है ।

- **चतुर्भुजदास :**

अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुम्भनदास के कनिष्ठ पुत्र हैं–चतुर्भुजदास । इनका जन्म 1585 ई० में हुआ । संसार से विरक्त होकर चतुर्भुजदास का ध्यान भजन कीर्तन की ओर अधिक रहता था । पिता ने इन्हें स्वयं गान–विद्या की शिक्षा देकर पुष्टिमार्ग की दीक्षा दिलायी थी । शैशव–काल से ही ये काव्य–रचना करने लगे थे । इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है । स्फूट पदों को ही 'चतुर्भुज–कीर्तन–संग्रह', 'कीर्तनावली', और 'दानलीला' शीर्षकों से प्रकाशित किया गया । इनकी रचना में शृंगार की छटा विद्यमान है । कृष्ण–जन्म से लेकर गोपी–विरह तक ब्रजलीला –गान इन्होंने किया है, किन्तु किसी मौलिक प्रसंग की उद्‌भावना इनके पदों में नहीं मिलती । इनके पद साधारण ब्रजभाषा में है । श्रीनाथ जी के मंदिर में गाए जाने वाले पदों के अनुकरण में ही इन्होंने पद रचना की हैं ।

2.5.5 कृष्णभक्ति काव्य की प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ :

कृष्णभक्ति काव्य के विकास में आचार्यों की भूमिका के कुछ प्रमुख पक्ष हैं, निम्बार्क, वल्लभ के साथ चैतन्य का भी उल्लेख हैं, जिन्होंने पूर्वांचल में कृष्णभक्ति का प्रचार किया और अपने षट्‌गोस्वामियों–रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी आदि को वृन्दावन भेजा । चैतन्य के चिंतन का आधार भागवत् है, पर उनके चिंतन में राधा की उपस्थिति उल्लेखनीय है । इससे प्रेमभक्ति को प्रमुखता मिली जिसे, कीर्तन आदि के माध्यम से व्यक्त किया गया । कृष्णभक्ति काव्य के आचार्य एक ओर दार्शनिक है और भक्तिशास्त्र भी निर्मित करना चाहते हैं । पर दूसरी ओर उन्हें यह एहसास भी है कि चिंतन की सार्थकता जीवन से संबद्ध होने में है, इसलिए वे इसके व्यवहार रूप और साधनापक्ष पर ध्यान देते हैं ।

भक्ति काव्य एक लम्बा समय पार करता है–चौदहवीं शती के आरंभ से लेकर सत्रहवीं शती के लगभग मध्यभाग तक और इसी दौर में कृष्ण भक्तिकाव्य भी सक्रिय है । इतिहास की दृष्टि से यह सल्तनतकाल और मुगलकाल है, जिसका मूल ढाँचा सामंती है । केन्द्रीय सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए सूबों में विश्वसनीय सूबेदार है, जो प्रमुख शासक की तर्ज पर अपना दरबार चलाते हैं । इन सबसे देशी भाषाओं को नई सक्रियता मिली और भक्तिकाव्य की रचनाशीलता को नई दिशाएँ मिली । इस संपन्न सामंती समाज के विपरीत बहुसंख्यक ग्राम समाज है, अतिवृष्टि, अनावृष्टि से जूझता हुआ । देखा जाय तो यहाँ दो अलग संसार

हैं, जैसे एक योग विलास में मग्न और दूसरा जीवन–संघर्ष में उलझा हुआ । भक्तिकाव्य का संबंध उस सांस्कृतिक परिवेश से है जो रचना को व्यापक स्तर पर प्रभावित करता है ।

कृष्ण भक्तिकाव्य गहरे स्तर पर समाज की जटिलताओं की पहचान उसका प्रस्थान है और परिवेश से टकराते हुए वृहत्तर संवेदन–संसार की रचना उसका सहीं गंतव्य है । इसे 'विजन' अथवा 'कविस्वप्न' कहा गया । यह जितना विराट होगा, रचना उतनी ही समर्थ होगी । कृष्ण भक्ति काव्य अपने समय को दूसरे ढंग से देखता है और यहाँ मूल अंतर 'कवि दृष्टि' का है । एक तो, यहाँ कृष्ण के बाल, किशोर, यौवन की लीलाओं का प्राधान्य है और महाभारत का सुदर्शन चक्रधारी रूप गौण हो गया है । ब्रजमंडल की लीलाभूमि में गोकुल, वृन्दावन प्रमुखता प्राप्त करते हैं और सहचर रूप में राधा, गोपी, ग्वाल–बाल हैं । यहाँ प्रेम के माध्यम से भक्ति के सर्वोच्च धरातल पर पहुँचने का जो प्रयत्न है, वह एक प्रकार से सामंती समय के देहवाद के अतिक्रमण से उपजा है । प्रेम स्वयं में शुभ है, यदि उसमें शरीरवाद को पार कर सकने की क्षमता हो ।

कृष्ण भक्तिकाव्य में रसिक रेखाओं की कमी नहीं है और कई प्रसंगों में उसमें ऐसा खुलापन भी है कि प्रचलित रूढ़ नैतिकता से उसकी संगति बिठा पाना संभव नहीं है । भागवत बार–बार कृष्ण के देवत्व की ओर संकेत करता चलता है ।

भक्तिकाव्यों में 'नवधा भक्ति' की चर्चा प्राय: सभी कवियों ने की है । पर कृष्ण भक्ति काव्य कृष्ण को अपना बहुत समीप मानता है । यहाँ जिसे सख्यभाव कहा गया है उसमें विनय समर्पण का दास्यभाव भी सम्मिलित है । सूर के विनय पद इसका प्रमाण हैं : ''चरन–कमल बंदौ हरिराई; स्याम गरीबनि हूँ के गाहक; दयानिधि तेरी गति लखि न परे'' आदि । यह ध्यान देने योग्य है कि ईश्वर के प्रति यह विनय रागभाग भ्रमरगीत में अपनी पूर्णता पर पहुँचता है और गोपिकाएँ इसका माध्यम बनती हैं । उपास्य और उपासक की समीपता से कई मध्यस्थ अप्रसांगिक हो जाते हैं । क्योंकि यहाँ दोनों के मध्य सीधा संवाद स्थापित होता है । कृष्ण भक्तिकाव्य में उपास्य का बोध करानेवाला गुरु भी उतना स्थान प्राप्त नहीं करता जितना कि रामकाव्य में । कृष्णभक्ति काव्य में सीधे संवाद से एक ऐसा रागमय वातावरण उपजता है, जहाँ शास्त्र का स्थान लोक को मिलता है । कर्मकांड पुरोहितवाद की सीमाओं को तोड़ते हुए कृष्ण भक्तिकाव्य नई आचार–संहिता निर्मित करता है । यहाँ रागानुगा भक्ति ही सर्वोपरि है । गोपिकाएँ कृष्णार्पित हैं, यही उनका सुख है, यही उनका प्राप्य कृष्ण–भक्तिकाव्य का लीला–संसार ब्रजमंडल से अधिक संबंध है और लगता है जैसे वहाँ की लोकछवि अपनी पूरी रंगमयता में यहाँ उपस्थित है । गोकुल, वृन्दावन, यमुना कृष्णलीला का परम साक्ष्य हैं । गोकुल के सभी सामाजिक उत्सवों का पूरा वर्णन मिलता है जिसमें सभी गोकुल के निवासी सम्मिलित होते हैं । वसन्त–फागुन के दृश्य कृष्णकाव्य में बहुलता से मिलते हैं । कृष्ण भक्ति काव्य के संदर्भ में यह कहा जाता रहा है कि राम का जन्म लोकरक्षक का है, और कृष्ण का लोकरंजक का । लोकरंजक से ही कृष्णभक्त कवि अपनी अभिप्सा की पूर्ति करना चाहते हैं ।

2.5.6 सारांश : मूल्यांकन

वस्तुत: कृष्णकाव्य में कृष्ण का व्यक्तित्व, कृष्ण भक्ति साहित्य के माध्यम से कई रूपों में हमारे सामने आता है । लीला पुरुषोत्तम से लेकर लोक देवता के रूप में उनका महत्व जनमानस में व्याप्त है । कृष्ण भक्तिकाव्य के संदर्भ में श्रीमद्भागवत का विशेष महत्व है । भागवत में भक्ति को सर्वजन सुलभ बताया गया है । कृष्णभक्ति के संदर्भ में दार्शनिक वाद–विवादों की अपेक्षा उसका लोकरूप अधिक प्रभावशाली होकर उभरा है । सूरदास के काव्य को पशुचारण काव्य की संज्ञा दी गई है । पशुचारण काव्य में जिन आदिम मनोभावों की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार की अभिव्यक्ति सूर के काव्य में मिलती है ।

कृष्णकाव्य के भक्त कवियों में अनुभूति की तन्मयता थी । अनुभूति की तन्मयता ने कवियों में संगीतात्मक चेतना का प्रसार किया । अधिकतर कृष्णभक्त कवियों के काव्य में लयात्मक सौंदर्य मिलता है । इसी कारण कृष्णभक्त कवि जनता में लोकप्रिय हुए । कृष्णभक्त कवियों के प्रभाव से ब्रजभाषा का विकास अखिल भारतीय स्तर पर हुआ । कृष्णभक्त कवियों ने सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में कृष्णकाव्य को प्रस्तावित किया था ।

अभ्यास प्रश्न

1. कृष्णभक्ति काव्यधारा की विशेषताएँ बताइए ।
2. प्रमुख कृष्णभक्त कवि कौन हैं बताइए और उनकी रचनाओं का परिचय दीजिए ।
3. कृष्णभक्ति और रामभक्ति काव्यधारा में क्या अंतर है ?
4. सूरदास के काव्य का प्रमुख भाव क्या है- सोदाहरण बतलाइए ।
5. कृष्णभक्ति काव्यधारा के प्रमुख रचनाकारों और उनकी रचनाओं के बारे में बताइए ।
6. वात्सल्य का कवि किसे माना जाता है और क्यों ?
7. इस काव्य में प्रकृति का वर्णन किस रूप में हुआ है ?

संदर्भ ग्रंथसूची

- भक्तिकाल: हिंदी साहित्य का स्वर्णकाल, , डॉ. आरती कुमारी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2019.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.
- हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-2015.
- हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2006.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेंद्र, मयूर पेपरबैक्स, नोएड़ा-2004.
- हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.

UNIT-III

इकाई की रूपरेखा

3.1. प्रस्तावना

3.2. रीतिकाल का आरंभ

  3.2.1. नामकरण और सीमा निर्धारण

3.3. रीतिकाल की पृष्ठभूमि

  3.3.1. सामाजिक परिस्थिति

  3.3.2. सांस्कृतिक परिस्थिति

  3.3.3. धार्मिक परिस्थिति

  3.3.4. साहित्यिक परिस्थिति

3.4. रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएँ

  3.4.1. रीतिबद्ध काव्य–धारा

  3.4.2. रीतिसिद्ध काव्य–धारा

  3.4.3. रीतिमुक्त काव्य–धारा

3.5. रीतिग्रन्थों का प्रवर्तक

3.6. रीतिकाल के प्रमुख आचार्य

3.7. निष्कर्ष

3.8. अभ्यास प्रश्न

3.1. प्रस्तावना :

कविता का उद्‌भव समकालीन राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक परिस्थितियों में ही होता है । परिस्थितियों के बदलने के साथ–साथ काव्य की प्रवृत्तियाँ भी बदल जाती हैं । इसलिए युगीन पृष्ठभूमि का अध्ययन आवश्यक होता है ।

रीतियुग का काव्य तत्‌कालीन राजदरबारों में पला है । कवि राजाश्रित थे । श्रृंगार रस, कलात्मक सचेतनता आदि इसकी विशेषता बन गई । जीवन के प्रति ऐहिकतापरक दृष्टिकोण के कारण यह संभव हुआ । अधिकांश काव्य गतानुगतिक शैली में लिखे गए । फिर भी सूक्ष्म भावों का निरूपण, काव्यकला का उत्कर्ष, भाषा का परिमार्जन आदि इस काल की उपलब्धियां हैं । ऐसा दूसरे कालों में नहीं हुआ ।

3.2. रीतिकाल का आरंभ :

हिन्दी साहित्य का रीतिकाल भक्तिकाल के बाद आता है । इस काव्य की प्रवृत्तियाँ पूर्ववर्ती काल की प्रेरणा से उत्पन्न हुईं । भक्तिकाल के कृष्णकाव्य की रागात्मिका भक्ति ही रीतिकाल के वातावरण और फारसी साहित्य के प्रभाव से लौकिक श्रृंगार में बदल गई । यह आश्चर्य की बात नहीं है कि परवर्ती रामभक्ति काव्य भी रागात्मक और श्रृंगार परक हो गया ।

3.2.1. नामकरण और सीमा निर्द्धारण :

संस्कृत में 'रीति' काव्य शास्त्र का एक संप्रदाय था । लेकिन हिन्दी में रीतिकाल की काव्य–रचना एक निर्दिष्ट परिपाटी या शैली पर चलपड़ी । इसलिए इसका नाम रीतिकाल चल पड़ा । रामचन्द्र शुक्ल ने ही इस काल में श्रृंगार की विशेष प्रवृत्ति लक्ष्य करते हुए भी लक्ष्य –लक्षण ग्रंथ लिखने की परिपाटी के कारण रीतिकाल नाम चुना । हालाँकि, संस्कृत में लक्षण–ग्रंथ या रीति ग्रंथ रचने की परम्परा पहले से रही है । आगे चलकर यह प्राय: सर्वमान्य हो गया ।

साहित्य में किसी प्रवृत्ति का उदय और अवसान यकायक नहीं होता । रीतिकाव्य का सूत्रपात बहुत पहले हो चुका था । कृपाराम कृत 'हिततरंगिणी' उसका प्रमाण है । लेकिन उसका विधिवत् प्रवाह चिंतामणि से माना जाता है । हिन्दी साहित्य के मध्यकाल की सीमा 14 वीं से 19 वीं शदी तक माना गया है । उसी में से उत्तर मध्यकाल या रीतिकाल का समय सत्रहवीं शती के मध्य–भाग से उन्नीसवीं शती के मध्यतक माना जाता है–1650 ई० से 1850 ई० ।

3.3. रीतिकाल की पृष्ठभूमि :

भक्तिकाव्य का उद्देश्य सामान्य जनता में भक्ति भावना का प्राचर था । उसमें लोकमंलग और लोकरंजन की प्रवृत्ति थी । लेकिन रीतिकालीन काव्य राजदरबारों में आ गई । उसका उद्देश्य एक सीमित जन समुदाय के मनोरंजन करना हो गया । इसलिए वह जन साहित्य नहीं रहा; गोष्ठी साहित्य में परिणत हो गया । उसमें जीवन का गतिशील रूप, गंभीर अनुभूतियों के स्थान पर स्थिर रूप और बाह्य ज्ञान को बल मिला । रीतिकाल पर तत्कालीन सामंती परिवेश का पूरा प्रभाव पड़ा । केवल काव्य ही नहीं अन्य समस्त ललित कलाओं पर भी सामंती जीवन–दृष्टि का प्रभाव पड़ा । वे अधिक मनोरंजक और सौंदर्यपरक होने लगीं ।

दरबारी पृष्ठभूमि :

प्राचीन काल से ही राजाओं के दरबार कवि, पंडित और कलाकारों के आश्रय स्थल थे । राजा जब विक्रमादित्य और भोज की भाँति गुणज्ञ होता था तो कविता और कलाओं में उत्कर्ष होता था, भाव की गंभीरता होती थी । कला लोक रूचि के साथ व्यापक और मानवीय होती थी । अगर राजा की गुणज्ञता कम होती तो काव्यों में अलंकरण, श्रृंगार और प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ जाती है ।

जब शासन–व्यवस्था स्थिर और सुदृढ़ होती है तब काव्य–कलाओं का उत्कर्ष होता है । देश में सातवीं शताब्दी तक शांति और सुशासन था, इसलिए स्थिति अच्छी रही । लेकिन जबसे पश्चिमोत्तर सीमांत से विदेशी आक्रमण होने लगे तो उत्तर भारत में अराजकता फैलने लगी । मुगल शासन की प्रतिष्ठा के बाद विशेषकर अकबर के गद्दी पर बैठने के बाद से केन्द्रीय शासन दृढ़ और शक्तिशाली बन गया । मुगलों के दरबार में कवि, कलाकार और विद्वानों का सम्मान किया जाने लगा । काव्य और कलाओं को काफी पोषण मिला । अब्दुल रहीम खानखाना जैसे गुणज्ञ शासक थे । इनका संबंध तुलसीदास केशवदास और

अन्य वैष्णव आदि अकबर के दरबार में बैठते थे । अकबर के बाद मुगलशासक विलासी और प्रदर्शनप्रिय हो गए । मुगल सम्राटों का अनुकरण करके देशी राजा लोग भी सुरा–सुंदरी, विलास–व्यसन के आदी हो गए । फलस्वरूप काव्य तथा कलाओं में विलास, श्रृंगार और प्रदर्शनवृत्ति बढ़ने लगी । इसीसे हिन्दी में रीतिकाल का जन्म हुआ ।

ऐतिहासिक विकासक्रम :

औरंगजेब के बाद मुगलों की केन्द्रीय राजसत्ता कमजोर हो गई । जहाँ–तहाँ राजा –नवाबों के छोटे–बड़े राज्य स्थापित हुए । सामंतवाद का प्रभाव बढ़ गया । शासक विलासी हो गए । सामंतवादी जीवन मूल्यों के बढ़ावे से विलास और प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ी ।

काव्य और कलाएँ राजदरबारों की जीवन–दृष्टि के अनुरूप एक विशेष वर्ग के लोगों के लिए प्रयुक्त होने लगी । कवि अपनी कला के प्रति अधिक सचेत हुआ । कृतियों को अधिक सुंदर बनाने का प्रयास बढ़ा । सजावट, अलंकरण की प्रवृत्ति बढ़ी । अधिकतर इसकी प्रेरणा प्रदर्शन वृत्ति होने पर भी सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति अधिक सुंदरता और सुघड़ता के साथ हुई ।

3.3.1. सामाजिक परिस्थिति :

समाज कई भागों में विभक्त था । राजा–सामंतवर्ग विलास–व्यसनों में डूबे हुए थे और मिथ्या अभिमान तथा वैभव का प्रदर्शन करते थे । किसी में साहस, पौरुष और मुकाबला करने की शक्ति या इच्छा नहीं थी । प्रजावर्ग की ओर उनकी दृष्टि न थी । शासकवर्ग शोषक और निरंकुश हो गया था । राजा–प्रजा में कोई संपर्क ही नहीं था । जनता अपने भाग्य को कोसती रह जाती थी ।

यद्यपि कवि और कलाकार प्रजावर्ग के होते थे; परन्तु जीविका के लिए वे राजन्यवर्ग पर आश्रित थे । अपनी कलाओं का उपयोग वे उच्चवर्ग की प्रेरणा से और संतोष के लिए करते थे । सामान्य जन की बातें उसमें नहीं आती थीं । वे तो जीवनभर अपने पेट पालने में व्यस्त रहते थे । साधारण मानव के सुख–दुख, रूचि, आशा–आकांक्षा के विपरीत केवल संपन्न व्यक्तियों की रूचि के अनुकूल श्रृंगार, विलास, साजसज्जा, रसिकता ही काव्य का उपजीव्य बन गया था । गाँव और नगर के बीच खाई बढ़ गई थी । कवि, कलाकार, नागर रसिक वर्ग में आते थे । वे लोकजीवन की दु:खदायक परिस्थितियों का वर्णन करके आश्रयदाता के कोपभाजन नहीं बनना चाहते थे । यद्यपि अनेक कवियों की कविताओं में तत्कालीन जीवन की झलक मिल जाती हैं ।

उदाहरण के लिए पद्माकर ने उच्चवर्ग या 'प्रभुलोगों' की जीवन शैली पर निम्न पंक्तियों में प्रकाश डाला है–

गुलगुली गिल में गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चाँदनी हैं चिकै हैं चिरावन की माला हैं ।
कहै 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा हैं सजी,
सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्याला हैं ।
सिसिर के पाला के न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं ।
तान तुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं दुसाला हैं बिसाला चित्रसाला हैं ।

देव अपने आश्रयदाताओं की 'दया' से तंग आकर अपने मन को ऐसे नसीहत देते हैं–

ऐसे जो हौं जानत तो जै हैंतुबिषै के संग

ऐ रे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोर तो....

.....राधाबर बिरुद के बारिधि में बोर लो ।

3.3.2. सांस्कृतिक परिस्थिति :

हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ रहने के बाद उनका आपसी संपर्क बढ़ा । एक दूसरे की संस्कृति से परिचित होने लगे । मुसलमानों के साथ फारसी-ईरानी संस्कृति थी । उसने राजदरबारों के मातहंत संगीतकला, चित्रकला और स्थापत्य कला को प्रभावित किया । परिणाम स्वरूप भारतीय कलाओं पर फारसी रंग चढ़ने लगा ।

स्थापत्य कला :

भारतीय और फारसी वास्तुकला का सम्मिश्रण से उत्पन्न शिल्पकला का उत्कृष्ट नमूना 'ताजमहल' है । अकबर ने ही लाल पत्थरों से कई किले बनवाये, जो साम्राज्य की शक्ति, महत्वाकांक्षा के प्रतीक थे । तभी से अलंकरण और प्रदर्शन की प्रवृत्ति शुरू हो गई थी । फिरभी वे भवन भव्यता और चमत्कारिता का प्रभाव डालते थे । राजपूत शैली पर मुगल शैली के प्रभाव से राजपुताने के अनेक महल बने हैं । जहाँगीर विलासिता और सौंदर्य का प्रेमी था । उसने वास्तुकला के विकास में विशेष योगदना दिया । उसीके समय में भवनों, मस्जिदों और मकबरों में बारीक पच्चीकारी दिखाई पढ़ती है । संगमरमर के श्वेत पत्थरों पर बेलबूते और कीमती पत्थरों को खचित करने की प्रवृत्ति देखी जाती है । यहाँ विलास ऐश्वर्य के साथ अलंकरण और प्रदर्शन की प्रकृति देखी जा सकती है ।

संगीतकला :

अकबर बड़ा संगीत प्रेमी था । उसके आश्रय में ही संगीत का चरम उत्कर्ष हुआ । तानसेन महान् संगीतकार था । उसने अनेक कीर्तिमान स्थापित किए । उसके यश ने तो बैजू बावरा जैसे साधारण व्यक्ति को संगीत की ओर आकृष्ट किया । ग्वालियर के दरबार में 'ध्रुपद' शैली का विकास हुआ । फिर कई घराने हुए और अनेक राग-रागिनियाँ विकसित हुईं ।

3.3.3. धार्मिक परिस्थिति

धर्म भी युगधर्म से प्रभावित होता है । अकबर के राज्य में धर्म में उदारता, सहिष्णुता के भाव थे । वह सभी धर्मों का समन्वय करके 'दीने इलाही' नामक धर्म को चलाना चाहता था । हिन्दू -मुसलमानों में सौहार्द बढ़ाने के लिए उसने राजपूतों से वैवाहिक संबंध स्थापित किए । यह स्थिति शाहजहाँ तक चली । लेकिन औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता ने सबकुछ तहस-नहस कर दिया ।

यह युग नैतिक पतन का था । ऐसे में धार्मिक उदात्तता भी नष्ट हो गई । लोगों की स्वार्थ-सिद्धि ही प्रधान थी । अतएव रूढ़ि पालन और अंधविश्वासों का अनुसरण करना ही, धार्मिक जीवन का लक्षण बन गया था । पंडितराज जगन्नाथ की 'दिल्लीश्वर वा जगदीश्वर वा' की प्रसिद्ध उक्ति की व्यंजना थी कि कवि-कलाकारों का संरक्षण दिल्लीश्वर अथवा जगदीश्वर के दरबार में हो सकता है । पर उन्होंने ही देखा होगा कि ये दो ईश्वर कैसे विलासिता और ऐश्वर्य प्रदर्शन में डटे थे । धर्म का पतन स्वाभाविक था ।

शांडिल्य ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है-'सा परानुरक्तिरीश्वरे' । अनुराग या अनुरक्ति मानवीय भावावेग है । उसे ईश्वर के प्रति लगाना उस वृत्ति को उदात्त बनाना था । ईश्वर के प्रति परम प्रेम, लौकिक धरातल पर मानवीय प्रेम, और कामभावना में परिणत हो जाता है । आचार्य रामानुज ने प्रपत्तिवाद या दास्य भक्ति का निरूपण किया था । पर आगे चलकर उन्हीं की शिष्य परंपरा के सतनामी, लालदासी, नारायणी आदि संप्रदायों में वैभव और विलास की प्रधानता देखी गई ।

आचार्य निम्बार्क ने कृष्णभक्ति में माधुर्य का प्रचार किया । उन्हींकी परंपरा के रीतिकालीन कवियों ने बाह्य-विलास को विस्तार दे कर उसे सामान्य मानवीय स्तर पर ला खड़ा कर दिया । राधावल्लभ संप्रदाय और श्री चैतन्य के मतवादों में प्रेममूला भक्ति को स्वीकृति मिली थी । वही आगे चलकर ऊँची भावनाओं से नीचे आ गई और काममूला बन गई ।

आचार्य हजरी प्रसाद द्विवेदी ने सही कहा है कि आंतरिक प्रेम भावना के ह्रास के साथ बाह्य उपकरणों में भी सभी भाव, वेशभूषा और हावभाव के अनुकरण से साधना पक्ष का ह्रास हुआ । रागानुराग भक्ति में इस प्रकार के विकास के लिए पूरा अवसर था । इसके प्रभाव से वैधी भक्ति भी नहीं बच गई । मर्यादापुरुषोत्तम राम की भक्ति में श्रृंगारिक काव्य रचनाएँ हुईं ।

3.3.4. साहित्यिक परिस्थिति

सहित्य पर समाज और संस्कृति का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है । रीतिकाल की काव्यकला तथा अन्य ललित कलाओं पर तत्कालीन सामंती समाज और संस्कृति का प्रभाव पड़ा है । रीतिकालीन कवियों का सौंदर्यबोध मुगल तथा अन्य समृद्ध राज्यों के वैभव और विलास से प्रेरित था । रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है–

''राजा–महाराजों के दरबार में विदेशी शिष्टता और सभ्यता के व्यवहार का अनुकरण हुआ और फारसी के लच्छेदार शब्द वहाँ चारों ओर सुनाई देने लगे । अत: भाट या कवि लोग 'आयुष्मान' 'जयजयकार' ही तक–अपने को कैसे रख सकते थे ? वे दरबार में खड़े होकर 'उमर दराज महाराज तेरी चाहिए' पुकारने लगे ।''

यद्यपि भक्तिकाल मे दास्य–सख्य–श्रृंगार आदि रसों को अपनाया गया, फिर भी कृष्ण भक्ति के अंतर्गत श्रृंगार या माधुर्य भक्ति का विशेष प्रसार हुआ । ईश्वरीय प्रेम लौकिक श्रृंगार के धरातल पर उतर आया । शुक्ल जी कहते हैं–''हिन्दी में श्रृंगार की भावधारा भक्ति–धारा से ही फूटी । अत: स्वकीया प्रेम के लिए उसमें अवकाश न रहा । प्रेम के विस्तार के लिए परकीया प्रेम उपयुक्त था । फारसी में परकीया प्रेम का आवेग प्रदर्शित हुआ था । उससे हिन्दी के कवि अछूते न रह सके । फिरभी भारतीय परिवेश के अनुकूल कृष्ण और राधा ही नायक–नायिका बन गए । घोर वासनापूर्ण रचनाएँ करनेवाले भी भक्ति का आवरण ओढ़े हुए थे । जयदेव की उक्ति देखिऐ–

यदि हरि स्मरणे सरसों मन:

यदि विलासकलाषु कुतुहलंम् ।

हरिस्मरण उद्देश्य हो अथवा काव्यकला का विलास, हर हालत में जयदेव की कविता पढ़िए । हिन्दी में भी इसीके अनुरूप काव्योक्ति प्रचलित हुई–

आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई

न तो राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है ।

कृष्ण भक्त कवियों ने अपने भगवत प्रेम की पुष्टि के लिए जिस श्रृंगारिक छटाओं और आत्मोत्सर्ग के निवेदन से जनता को भावोन्मत्त किया उसीने ही साधारण जनों में लौकिक वासनाओं का उद्रेक कराया । भावों की सूक्ष्मता इन्द्रिय गोचर स्थूलता में विलीन हो गई । भक्ति काल के आराध्य राधा–कृष्ण साधारण नायक–नायिका बन गए । यह हाल लगभग सभी भाषा साहित्य में देखने को मिलता है । यद्यपि कहने को तो कवियों ने राधाकृष्ण के प्रेम को अप्राकृत कहा, लेकिन लोगों ने उसे प्राकृत प्रेम के रूप में अपने अनुदात्त अनुभव के दायरे में ही समझा । इसीलिए रीतिकालीन काव्य का मुख्य उपजीव्य श्रृंगार रस का विशद वर्णन ही हो गया । कलात्मकता विलासिता का पर्याय बन गई ।

फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि इस ह्रास के बावजूद रीतिकाव्य में मानवीय प्रेम व्यापारों की सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूति को अभिव्यक्ति मिली । ब्रज भाषा का माधुर्य, सौंदर्य, सौष्ठव और मनोहर नाद–छंद आदि का उत्कर्ष साधित हुआ । केशव का उक्तिवैचित्र्य, देव की रूचिर भावनाएँ अनुभाव –वर्णन, बिहारी का गागर में सागर, सेनापति का प्राकृतिक आलम्बन, मतिराम–पद्मकार का भाषा की रम्यता, घनानंद व ठाकुर, बोधा आदि की सूक्ष्म अनुभूतियाँ ब्रजभाषा में चमक उठीं ।

एक और बात है । रीतिकालीन काव्य का दृष्टिकोण ऐहिक था । लौकिक सुख–स्वाच्छन्द्य, कलाविनोद, जीविका आदि उसके प्रेरक तत्व थे । यह पुरानी भारतीय साहित्यिक परंपरा है । विद्वानों का मत है कि ऐसी मुक्तक काव्य–परंपरा संस्कृत में ही थी, यद्यपि संस्कृत का कोई ऐसा काव्य–संकलन नहीं मिलता । प्राकृत में 'गाहा सत्तसई' ऐसी ही प्रसिद्ध रचना है । रीतिकाव्य

को इसी परंपरा के विकास के रूप में देखना अधिक युक्ति-युक्त है ।

तीसरी बात है कि रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार पर हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रणयन किया । यद्यपि उसमें बहुत अधिक मौलिकता नहीं है, तथापि यह प्रयास सर्वथा प्रशंसनीय है । परंतु उसमें एक महत्वपूर्ण अंतर है । संस्कृत के काव्यशास्त्र विवेचन की परिपाटी सुदृढ़ थी । वहाँ पहले बड़े-बड़े कवियों ने लक्ष्यग्रंथ लिखे । फिर आचार्यों ने उन्हीं के आधार पर लक्षण ग्रंथों का निर्माण किया । पहले अविचारित रमणीय रचनाएँ लिखी गईं, फिर उन्हीं के आधार पर 'सुविचारित नियमों' की स्थापना हुई । उदाहरण देने के लिए सरस रचनाएँ आचार्यों के सामने विद्यमान थीं । अतएव विवेचन या लक्षण मौलिक उदाहरण और लक्ष्यकाव्य सरस थे । हिन्दी में एक ही व्यक्ति ने लक्ष्य और लक्षण दोनों की रचना की । इसलिए संस्कृत की बँधी-बँधाई पद्धति पर लक्षणों का अनुवाद कर दिया गया और उसके अनुरूप उदाहरण रचे गए । परिणाम यह हुआ कि न तो काव्यशास्त्रीय विवेचन में कोई स्वास मौलिकता आ पाई और न ही उदाहरण सरस बन सके ।

हिन्दी के आचार्य मौलिक चिंतक नहीं थे । दरबारी परिवेश में वे चिंतन ठीक से नहीं कर पाये । आचार्य कर्म को उन्होंने गंभीरता से नहीं लिया । केवल परिचयात्मक भूमिका अपनाई । वैसे भी संस्कृत में काफी गंभीर काव्यशास्त्रीय विवेचन हो चुका था । उसके आगे जाना सरल काम न था । हिन्दी कवियों का काम तो सरस उदाहरण द्वारा सिद्धांतों की सरल व्याख्या कर देना था । लक्षण के अनुसार उदाहरण बनाने में मौलिकता के लिए सुयोग कम ही था । फिर भी सामान्य जन के ज्ञानवर्द्धन, रसिकता का आस्वादन, अल्प प्रयास से धन और यश का अर्जन संभव हुआ । इस प्रयत्न में हिन्दी रीति शास्त्र का निर्माण और प्रसार हुआ । यह समझना है कि परिस्थितियों के प्रभाव से ही ऐसा हुआ । सब के लिए-कवियों में प्रतिभा तो थी पर उसका समुचित विकास न हो पाया । काव्य रचना और शास्त्र ववेचन एक रूढ़िबद्ध ढंग से चल पड़ा ।

भारतेन्दु युग तक स्वच्छन्द अलंकरण के ज्ञान को विद्वत्ता का प्रतीक माना जाना था, पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के काल में नवजागरण, सुधारवाद, नए ज्ञान विज्ञान के प्रकाशन आदि के कारण रीति-काव्य को हीन दृष्टि से देखा जाने लगा । उसे अश्लील कहकर नाक-भौं सिकोड़ा गया । शुक्ल जी ने लोकवादी मान्यताओं के कारण रीतिकाव्य की विलासिता और चमत्कारिता की निंदा की । लेकिन आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि ने रीतिकाल को सम्यक् दृष्टि से देखने का प्रयास किया ।

3.4. रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएँ

हिन्दी रीतिकाव्य का प्रमुख आधार काव्यशास्त्रीय है । आचार्य शुक्ल ने इसीका विवेचन करते हुए हिन्दी के उत्तर मध्यकाल को 'रीतिकाल' नाम दिया । वैसे तो रीति ग्रंथों की रचनाएँ भक्तिकाल से ही मिलने लगती हैं । कृपाराम की 'हिततरंगिणी', नंददास की 'रसमंजरी', केशवदास की 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' ऐसी ही रचनाएँ हैं ।

हिन्दी में काव्यशास्त्र के अनुकरण पर ही रचनाएँ हुईं । इसलिए उसमें मौलिक या गंभीर विवेचन नहीं मिलते । दूसरा कारण तत्कालीन शासक वर्ग का काव्य-शास्त्र में रुचि नहीं थी । हिन्दी में ज्यादातर रस और अलंकार संप्रदायों का अनुसरण हुआ है । कवि और आश्रयदाता दोनों काव्यशास्त्रों के सामान्य ज्ञान द्वारा रसिकता का ही आस्वादन करना चाहते थे । कवियों का ध्यान काव्यशास्त्र की ओर भी था । इसलिए वे न तो अच्छे शास्त्राकार हो सकते थे और न ही अपनी काव्य-प्रतिभा का सुष्ठप्रदर्शन कर सके । रीति का बंधन काव्य प्रतिभा के उत्कर्ष-साधन में बाधा भी बन गई ।

इसकाल के संपूर्ण काव्य को विद्वानों ने तीन धाराओं में विभक्त किया है ।

1. रीतिवद्ध काव्यधारा
2. रीतिसिद्ध काव्य-धारा
3. रीतिमुक्त काव्य-धारा

3.4.1. रीतिबद्ध काव्य-धारा

रीतिबद्ध कवि वे हैं जिन्होंने काव्यशास्त्र का विवेचन किया और उसको सिद्ध प्रमाणित करने के लिए उदाहरणों द्वारा काव्य-रचना भी की । ऐसी रचनाओं को लक्ष्य -लक्षणग्रंथ कहा गया । ये दो प्रकार के हुए-

(क) सर्वांग निरूपक

(ख) विविधांग निरूपक

जिन आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों, यथा-काव्य लक्षण, काव्यहेतु, काव्य प्रयोजन, गुण, दोष, शब्दशक्ति, रीति, वृत्ति, रस, अलंकार, ध्वनि आदि का विवेचन किया, वे सर्वांग निरूपक कवि हैं । केशवदास, चिंतामणि, देव, भिखारीदास, प्रतापसाहि और ग्वाल इसी वर्ग के अंतर्गत आते हैं । इन्होंने आचार्यकर्म को अधिक गंभीरता से लिया । अतएव उदाहरणों (लक्ष्य) की अपेक्षा इनका ध्यान लक्षणों पर अधिक था । मम्मट का 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण' इनके उपजीव्य ग्रंथ हैं ।

इस काल में अधिकांश कवि ऐसे हुए हैं जिन्होंने लक्षण ग्रंथ और काव्यग्रंथ दोनों का एक साथ निर्माण किया है । प्राचीन संस्कृत साहित्य में लक्षण ग्रंथ की रचना केवल आचार्य करते थे । सिद्ध कवियों के काव्यग्रंथ को देखकर वे काव्य के लक्षण निश्चित करते थे और बाद के कवि उन्हीं लक्षणग्रंथों के आधार पर अपने काव्यग्रंथ रचते थे अर्थात् लक्षणग्रंथ और लक्ष्यग्रंथ के रचयिता भिन्न-भिन्न होते थे । इसके विरुद्ध हिन्दी के रीतिकाल में आचार्य और कवि का कार्य एक ही व्यक्ति ने किया है । एक ही कवि अपने ग्रंथ में विभिन्न काव्यों का लक्षण प्रस्तुत करके स्वयं ही उसका लक्ष्य अर्थात् उदाहरण भी प्रस्तुत करता है । इस प्रकार के आचार्यों या कवियों का रीतिबद्ध काव्यधारा में समावेश किया गया है ।

रीतिबद्ध काव्यधारा के ग्रंथों को तीन रूपों में विभक्त किया जाता है-

1. रस निरूपक ग्रंथ-जिनमें संपूर्ण काव्यांगों का वर्णन करके केवल विभिन्न रसों का ही लक्षण लक्ष्य किया गया है ।
2. अलंकार निरूपण ग्रंथ-जिनमें अलंकारों के ही लक्षण उदाहरण दिए गए हैं ।
3. विविध काव्यांग निरूपक ग्रंथ-जिनमें काव्य के अनेक अंगों का उदाहरण सहित लक्षण दिया गया है ।

3.4.2. रीतिसिद्ध काव्य-धारा :

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों में से अधिकांश ने आचार्यत्व के मोह में पड़कर कविता का उन्मुक्त विकास नहीं होने दिया है । इससे कवियों की प्रतिभा का भी समुचित विकास नहीं हो पाया है । परंतु रीतिसिद्ध कविता के कवि बिहारीलाल ने आचार्यत्व या लक्षणग्रंथ रचना का लोभ नहीं रखा है । लक्षणग्रन्थ न लिखकर भी इन्होंने रीति की समस्त परंपराओं को अपने काव्य में सिद्धि कर दिखाया है । वस्तुत: ये रीति से बँधे भी हैं और कुछ स्वच्छंद होकर भी चले हैं । इनमें रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त दोनों की कार्य-विशेषताओं का सामंजस्य पाया जाता है, इसलिए इनको रीतिसिद्ध कहा गया है । ये शास्त्रीय नियमों के पालन के लिए अपनी कविता को बिगाड़ते नहीं, किन्तु अपने अनुभव और निरीक्षण को ही प्रधानता देते हैं । अर्थरमणीयता और भावरमणीयता को ही कार्य का प्राण मानते हैं । इनमें कलापक्ष और भावपक्ष की समानता पाई जाती है । इनकी कविता स्वकीय विशेषता संपन्न होने से अधिक प्रभावशाली बन पाई है । हिन्दी के इतिहासकारों ने केवल बिहारी को रीतिसिद्ध कवि माना है ।

बिहारी का जन्म ग्वालियर के पास बसुआ गोविन्दपुर गाँव में सं. १६५२ में हुआ था । इनके पिता का नाम केशवराय था । कुछ लोग महाकवि केशव को इनका पिता मान लेते हैं । इनका बचपन बुदेलखण्ड में बीता था और यौवन मथुरा में । इन्होंने स्वयं भी लिखा है ।

जन्म ग्वालियर जानिए खण्ड बुन्देल बाल ।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल ।

मथुरा में इनकी ससुराल थी । १६७५ में शाहजहाँ से मिलने पर इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर बादशाह ने इन्हें आगरा में रहने के लिए कहा । वहाँ रहकर इन्होंने उर्दू-फरासी का अध्ययन किया और रहीम से भी भेंट की । सं १६९९ में ये

जयपुर पहुँचे तो सुना कि महाराज अपनी नई रानी के साथ राग–रंग में लीन हैं और राजकाज संभालने की भी उन्हें चिन्ता नहीं है । विहारी ने निम्नलिखित दोहा लिखकर महाराज के पास पहुँचाया–

नहिं पराग नहिं मधुर, मधु नहिं विकास इहिं काल ।
अली कली ही सौं बंध्यौ, आगे कौन हवाल ।।

दोहा पढ़ते ही महाराज की आँखे खुल गई और बाहर आकर बिहारी को बहुत–सा इनाम देकर अपने दरबार में रख लिया । मुख्य महारानी ने प्रसन्न होकर इन्हें एक गाँव इनाम में दिया था । बिहारी जोधपुर और बून्दी भी गये थे, पर वे कहीं टिके नहीं । उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन जयपुर में ही बिताया और अन्त में सं० १७२० में वहीं इन्तकाल कर गये । कहा जाता है कि इनकी कोई संतान नहीं थी, इसलिए इन्होंने अपने भतीजे निरंजन को गोद लिया था ।

इनका एक मात्र ग्रन्थ ''बिहारी सतसाई'' है, जिसमें ७९९ दोहे हैं । मात्र एक ग्रंथ लिखकर ही इतनी ख्याति पानेवाले बिहारी एकअद्वितीय कवि हैं । परमानन्द नाम के एक पंडित ने तो बिहारी के दोहों का संस्कृत अनुवाद भी किया है । भारतेन्दु हरिश्चंद्र, आबिकादत्त व्यास, लाला भगवानदीन जगन्नाथ दास रत्नाकर आदि आधुनिक विद्वानों ने भी इसकी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी हैं । इस सतसई के दोहों का मुख्य विषय शृंगाररस के अंतर्गत विविध भावों, हावों–अनुभवों, आलंबन और उद्दीपन विभावों का सुंदर वर्णन करना रहा है । उन्होंने अपने शृंगाररस से परिपूर्ण दोहों के द्वारा पाठक के मन और हृदय को आह्लादित करने का सफल प्रयास किया है । इस शृंगार के साथ ही नीति और भक्ति के चंद छींटे भी इधर–उधर बिखरे हुए मिल जाते हैं ।

कविवर बिहारी ने आचार्यत्व के लोभ में पड़कर किसी रीति–ग्रंथ की रचना नहीं की है, फिर भी उनकी सतसई में शृंगार–संबंधी, हाव, भाव आदि के तथा लक्षणा–व्यंजना आदि वृत्तियों के दर्शन हम पाते हैं । उनकी आचार्यत्व तथा कवित्व की अलौकिक प्रतिभा और सूक्ष्म निरीक्षणशक्ति स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होती है । इसलिए उन्हें रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि माना जाता है । बिहारी एक प्रतिभासंपन्न और बहुज्ञ कवि थे । उनकी सतसई में संगृहीत दोहों से प्रतीत होता है कि वैद्यक, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान आदि विषयों का भी उन्हें सूक्ष्म ज्ञान था । ज्ञान–विज्ञान के साथ ही बिहारी की वाग्विदग्धता अथवा किसी बात को सुन्दर ढंग से कहने की शैली तो अद्‌भुत ही है । उनकी वाणी की अभिव्यंजना देखकर पाठक आश्चर्यचकित हो जाता है । पहला ही दोहा है–

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोई ।
जा तन की झाई परै स्वाम हरित दुति होई ।।

इसमें 'स्याम' और 'हरितदुति' अपने–अपने श्लेषपूर्ण अर्थों के कारण कवि की कारीगरी तथा वाग्वैदग्ध्य की सूचना दे रहे हैं । बिहारी की दूसरी विशेषता शृंगार के सभी पक्षों का सुंदर वर्णन है । उन्होंने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की समस्त अवस्थाओं का समन्वय किया है । प्रेमिका अपने प्रियतम की कोई वस्तु पाकर कितनी प्रसन्न होती है इसका स्वाभाविक चित्रण द्रष्टव्य है–

छला छबीले लाल को नवल गहे लहि नारि ।
चूमति चाहती लाय उर पहिरति धरति उतारि ।

दाहे जैसे छोटे से छंद में भी बिहारी ने 'गागार में सागर' भरने की उक्ति को सार्थक कर दिखाता है । चमत्कार, रसाभिव्यक्ति और रमणीयता उनके दोहों की प्रधान विशेषताएँ हैं । एक उदाहरण देखिए

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परत गांठि दुरजन पहिये, दई नयी यह रीति ।

इस एक ही दोहे में शब्दार्थ चमत्कार भाव, रस, अलंकार आदि के साथ इन थोड़े से शब्दों में एक लम्बी कथा के योग्य सामग्री भर देने का कार्य विहारी के अतिरिक्त कौन कर सकता है ? ऐसे तो अनेक उदाहरण बिहारी की सतसई में से दिये जा सकते हैं ।

बिहारी काव्य की मुख्य भाषा तो ब्रज है किंतु इसमें पूर्वी हिन्दी, बुन्देलखण्डी, अरबी, फारसी, आदि के शब्दों की भी मिलावट है । भाषा में मुहावरों को बंदिश दर्शनीय और आकर्षक बन गई है । निम्नलिखित मुहावरों का प्रयोग देखने योग्य बन पड़ा है–

आँखिन आँखि लगी रहैं आँखै लागत नाहिं ।

जिनहीं उरझयौ मो हियो तिनहीं सुरझे बार ।

वस्तुत: प्रसिद्ध और कवित्व की दृष्टि से रीतिकालीन कवियों में बिहारी का स्थान अन्यतम है । इनके दोहों के सम्बन्ध में आलोचक ने उचित ही कहा है, ''बिहारी की कविता खांड की डली के समान है जिसे जिधर से भी चखिये मीठी ही लगेगी'', यह कथन सर्वथा उचित है । ग्रीयर्सन ने उन्हें 'भारत का थोमसन' कहा है और उनकी रचनाओं को 'अक्षरों का कामधेनु' कहकर बिरदाया है । उनकी सतसई के संम्बन्ध में निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है–

सतसैया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर ।

देखन में छोटे लगै घाव करै गंभीर ।।

3.4.3. रीतिमुक्त काव्य–धारा

रीतिमुक्त से तात्पर्य उन रचनाओं से है जिनकी रचना काव्यशास्त्र के नियमों के आधार पर न होकर केवल 'स्वान्त:–सुखाय' रचना की गयी है । इनमें से भी कुछ काव्य रीतिकाल के वातवरण के अनुकूल बन पाए हैं । इस धारा के कवियों ने न तो कोई लक्षण ग्रंथ ही लिखे हैं और न ही किसी के लक्षण के आधार पर काव्य रचना का प्रयास किया है । इसलिए इनको रीतिमुक्त कहा गया है ।

इस धारा के ग्रंथों को तीन रूपों में विभक्त किया गया है–

1. श्रृंगाररस परिपूर्ण मुक्तक–घनानंद, बोधा, ठाकुर, आलम आदि कवियों ने काव्यशास्त्रीय आधार न लेकर भी श्रृंगारिक मुक्तकों की रीतिकाल के वातावरण के अनुकूल रचना की है । साथ ही इन्होंने इस वातावरण के प्रतिकूल रचना भी की है ।

2. वीररस विषयक प्रबंध और मुक्तक रचनाएँ–इस काल में ही लालकवि, जोधराज, सूदन, चन्द्रशेखर आदि ने वीर रसात्मक प्रबंध काव्य लिखे हैं, तो भूषण ने राष्ट्रीय भावना से पूर्ण वीररस के मुक्तक रचे हैं ।

3. नीति और भक्ति संबंधी मुक्तक–इसी काल में वृंद, गिरिधर बेनी आदि ने नीति संबंधी मुक्तक रचे हैं तथा ध्रुवदास, नागरीदास, भगवत रसिक, गुरु गोविन्दसिंह आदि ने भक्ति संबंधी मुक्तकों की रचना की है ।

3.5. रीतिग्रन्थों का प्रवर्तक

इस धारा में कवि किसी काव्यांग का लक्षण न देकर लक्ष्यकाव्य की रचना करता है, परंतु उसके लक्ष्य काव्य का आधार कोई काव्यांग लक्षण ही होता है । अर्थात् लक्षण का निर्माण न करने पर भी उसके काव्य मात्र से ही लक्षण सिद्ध हो जाता है, ऐसी काव्य धारा को रीतिसिद्ध काव्यधारा कहा गया है । बिहारी का काव्य इसका सबसे उत्तम उदाहरण है ।

- **विविधांग या विशिष्टांग निरूपक :**

इन कवियों ने चुने हुए काव्यांगों पर विवेचन किया । इसलिए इनके पास सरस उदाहरणों की रचना करने का अधिक सुयोग था । इनको मुख्यत: तीन वर्गों में रखा जा सकता है–

1. रस निरूपक
2. अलंकार निरूपक
3. पिंगल निरूपक

रस निरूपक आचार्यों ने प्राय: शृंगार रस का सांगोपांग विवेचन किया और अन्य रसों का संक्षिप्त परिचय दे दिया । कवियों की अधिक रूचि –'नायक–नायिका भेद' के विवेचन पर रहा । इसके प्रमुख आधारग्रंथ भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' हैं । कहीं–कहीं संस्कृत नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण से भी सहायता ली गई है । हिन्दी के 'रसिकप्रिया', 'वरवैनायिका भेद' और 'नगरशोभा' आदि का उपयोग किया गया । ऐसे ग्रंथों में तोष कवि का 'सुधानिधि' देव का 'भावविलास', भिखारीदास का 'रस सारंश', सैयद नवी रसलीन का 'रसप्रबोध', पद्माकर का 'जगद्विनोद', बेनी प्रदीन का 'नवरसतरंग' आदि प्रमुख हैं । शृंगाररस और नायिका–भेद संबंधी प्रमुख ग्रंथों में मतिराम कृत 'रसराज', कालिदास द्विवेदी कृत 'वारवधू विनोद' की गणना हाती है । इस वर्ग में लगभग बीस कवियों ने ख्याति प्राप्त की है ।

अलंकार संप्रदाय के आचार्यों के जिन ग्रंथों को रीतिकालीन हिन्दी कवियों ने उपजीव्य बनाया, उनमें जयदेव कृत 'चन्द्रालोक' और अप्पयदीक्षित कृत 'कुवलयानंद' का विशिष्ट स्थान है । केशव ने दंडी का अनुसरण किया है । केशव के पचास साल बाद अलंकार संप्रदाय में महाराज जसवंत हुए । उन्होंने 'भाषा भूषण' लिखा । यह 'कुवलयानंद' की शैली में लिखा गया ग्रंथ है, जिसमें लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे में दिया गया है । इनका वर्णन स्पष्ट और बोधगम्य, तो है, तथापि सभी अलंकारों का स्वरूप नहीं आ पाया । इन्होंने 'चन्द्रलोक' के आधार पर शब्दालंकारों का भी परिचय दिया है । मतिराम ने 'ललित ललाम' और अलंकार 'पंचाशिका' नान से दो ग्रंथ लिखे हैं । विषय के बोध के लिए 'ललित ललाम' अधिक प्रौढ़ रचना है । भूषण ने 'शिवराजभूषण' की रचना करने में 'ललितललाम' का ही अनुसरण किया है । रीतिकाल के अंतिम प्रसिद्ध आचार्य पद्माकर कृत 'पद्माभरण' सरस और संक्षिप्त शैली में लिखा गया लोकप्रिय ग्रंथ है । इस क्षेत्र में गोप, रसिक सुमित, दलह, बैरीसाल, गोकुलनाथ आदि आचार्यों का नाम लेना आवश्यक है ।

छंद निरूपक आचार्य :

केशवदास ने ही अपनी छंदमाला में छन्दों का निरूपण किया है । यह कवि–शिक्षा के लिए लिखी गई पुस्तक है । चिंतामणि के ग्रंथ का नाम भी 'छंदमाला' ही है । ये दोनों रचनाएँ परिचयात्मक हैं । यह केदार का प्रख्यात ग्रंथ 'वृत्तरत्नाकर', हेमचन्द का 'छंदानुशासन' और 'प्राकृत पैंगलम्' के आधार लेकर मतिराम द्वारा लिखित ग्रंथ 'वृत्त कौमुकी' काफी प्रौढ़ रचना है । इसमें मौलिकता कम है, पर लगभग सभी छंदों का व्यवस्थित और पूर्ण विवेचन है, जो बहुत ही उपयोगी है । इसके उदाहरण भी सरल और सरस हैं । इस वर्ग के लभगभ पन्द्रह और कवि–आचार्य हुए हैं । अधिकतर इन लोगों ने संस्कृत–प्राकृत छंदों का विवेचन करने पर भी नए छंद रचने का प्रयास किया है ।

अतएव ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होता है कि यद्यपि हिन्दी का विशिष्ट (सामंती) परिवेश से विशिष्ट (पिटीपिटायी) रचना –प्रणाली को अपनाने से अधिक मौलिक और सरस नहीं हो पाया, फिर भी इसमें विवेचन की सरलता, स्पष्टता और सरसता विद्यमान हैं । इसमें यत्र–तत्र काव्यात्मक उत्कर्ष भी है । भाषा की सफाई, वचन–चातुर्य, सचेतन कलात्मक प्रयास, अलंकार प्रियता, सर्वत्र परिलक्षित होते हैं । शृंगार इस काव्य का मुख्य उपजीव्य है । वह कहीं–कहीं अश्लील भले लगे पर सर्वत्र उसमें भद्रता, शिष्टता, भावों की गंभीरता अवश्य मिलती है । श्रृंगार के अलावा वीरत्व, प्रशस्ति, नीति, वैराग्य और भक्तिपरक रचनाएँ भी रीतिकाव्य की देन हैं, इसे नहीं भुलाया जा सकता ।

- **श्रृंगार वर्णन :**

जैसा कि पहले कहा जा चुका है हिन्दी रीतिकाव्य की वर्णन–शैली काव्यशास्त्रीय है तो इसका वर्ण–विषय शृंगार है । शृंगार वर्णन की परंपरा अत्यंत प्राचीन है । संस्कृत–प्राकृत साहित्य में इसका चरम उदत्त तथा लौकिक रूप सर्वथा मनोहारी है । भक्ति –शृंगार का उदात्त और आध्यात्मिक रूप है । लौकिक स्तर पर इसमें मानवीय मनोभावों, हास–विलास, केलिविलास आदि का वर्णन है । संस्कृत काव्यशास्त्र में शृंगार को 'रसराज' कहा गया । हिन्दी कवियों ने इस सत्य को अपनी रचनाओं द्वारा प्रमाणित करने का प्रयास किया । हिन्दी रीतिकाव्य में शृंगार रस का जितना सविस्तृत वर्णन मिलता है, अन्य किसी रस का नहीं मिलता । श्रृंगार में भी नायक नायिका भेद, केलि–विलास, विरह–वेदना का वर्णन अधिक है । विरह वर्णन कहीं–कहीं फारसी

प्रभाव से अतिशयोक्ति की सीमा को पार कर जाता है ।

संस्कृत भागवत में राधाकृष्ण की शृंगार लीलाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है । वही मुख्य रूप से हिन्दी कवियों का उपजीव्य है । भक्तिकाल के आराध्य राधाकृष्ण रीतिकाल के कवियों के हाथों साधारण नायक–नायिका के रूप में अवतरित हो गए हैं । इसीलिए यहाँ श्रृंगार का स्थूल वर्णन है, ऐहिक है, कामोद्दीपक है । रसिक राजाओं और सामंतों के मनोरंजन के उपयोगी है । परंपरा पुष्ट साहित्यिक और तत्कालीन दरबारों के विलासमय परिवेश में मूर्तिमन्त लौकिक श्रृंगार दोनों सूत्रों से हिन्दी रीतिकालीन श्रृंगार–वर्णन प्रेरित और पोषित हुआ है ।

साहित्यिक प्रेरणा के रूप में संस्कृत के काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, भक्तिकाल के माधुर्य भक्ति की रचना, देशी–विदेशी राज दरबारों की विलसिता और रूचि, ललित वातावरण, मुक्तक काव्य की लंबी परंपरा आदि हैं ।

विद्वानों ने हिन्दी रीतिकाव्य के उच्च भाव–वैविध्य की भी सराहना की है । यह उसकी विशिष्टता है । इस श्रृंगारिक काव्य में शारीरिक काम और सुख लिप्सा भोगवादी प्रवृत्ति, नारी को कामकला की वस्तु के रूप में देखने की लालसा के बावजूद वर्णन की सरसता और अद्‌भुत ताजगी भी है, जो अन्यत्र दुर्लभ है ।

अलंकरण की प्रवृत्ति :

मनुष्य के मन में सौंदर्य–चेतना स्वाभाविक है तो अलंकरण की प्रवृत्ति भी । अपने शरीर, परिवेश को सजाना उसकी व्यवहारिकता है । प्रकृति के सौंदर्य को देखकर वह आनंद विभोर होता है । प्रकृति में भी सजावट है । मनुष्य में भी अपने को प्रदर्शन करने की सहज प्रवृत्ति दिखता है ।

साहित्य में स्वभावोक्ति की तुलना में वक्रोक्ति को सर्वदा अधिक महत्व दिया जाता है । साधारण कथन और विचित्र उक्ति में से विचित्रता के प्रति अधिक आकर्षण रहता है । लौकिक जीवन और साहित्य में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है । वैसे भी श्रृंगार के साथ अलंकरण स्वाभाविक रूप से जुड़ा है । विलास और मनोरंजन के लिए भी अलंकरण अनिवार्य उपादान है । समाज में जैसे–जैसे प्रदर्शन वृत्ति बढ़ती जाती है, साहित्य और कलाओं में भी उसका प्रतिफलन मिलने लगता है । राजा, सामंतों में अपनी वीरता, पराक्रम वैभव आदि का प्रदर्शन करना स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है । इसीसे रीतिकाल में अलंकरण मुख्य प्रवृत्ति बन गई ।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कहते हैं–'साहित्य–संसार में कविता के साथ अलंकारों का वही संबंध है जो कामिनी और उसके सौंदर्य में पाया जाता है ।'' नारी को अपने सौंदर्य की अभिवृद्धि के लिए गहनों का सहारा लेना पड़ता है । वैसे ही काव्य में अलंकारों का प्रयोग होता है । संस्कृत में अलंकार संप्रदाय का आरंभ भरतमुनि से होकर लंबा चला ।

हिन्दी के प्रधान आचार्य केशवदास ने साफ शब्दों में घोषणा की है–

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस–सुवृत्त ।
भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त ।।

अर्थात् नारी जितनी सुंदर हो, तो भी भूषण / अलंकारों के बिना सुंदर नहीं लगती ।

रीतिकालीन कविता राज दरबारों में सुनी जाती थी । अत: उसमें बुद्धिविलास, उक्ति–चमत्कार,आकर्षक–शैली, छंदबंधन, अत्युक्ति, अतिशयोक्ति आदि विशेषताएँ आ गईं । ये सब कविता कामिनी को सजाने के साधन बन गए ।

- **वीरकाव्य :**

संस्कृत काव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथों में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश रचनाएँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जाती थी । इनमें से अधिकांश तो श्रृंगारिक होते थे । कुछ वीरत्व, भक्ति, नीति, वैराग्य संबंधी भी होते थे । हिन्दी रीतिकाल ने उसी शैली का

अनुकरण किया ।

उस समय छोटे–बड़े सभी राजाओं के बीच राज्य तथा सुन्दरी के लिए कलह होते रहते थे । आए दिन युद्ध भी हो जाते थे । वीरता का प्रदर्शन संघर्ष के लिए आवश्यक कर्म था । प्राचीन काल से ही व्यक्ति के शौर्य की प्रशंसा होती आई है । अपनी मातृभूमि की सुरक्षा के लिए युद्धवीर रणक्षोभ में अपनी वीरता का प्रदर्शन करके प्राणों को न्योछावर कर देते थे । यह शौर्य की चरम पराकाष्ठा थी । वीर लोग राजभक्ति, स्वामिभक्ति आदि के लिए भी प्राणोत्सर्ग कर देते थे । अपने स्वाभिमान के लिए मर मिटना वीर पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी । राजपूत लोग ऐसे थे । वे देशप्रेमी, स्वाभिमानी व्यक्ति तथा अहंकारी होते थे । जब दसवीं शताब्दी में पश्चिमोत्तर प्रांतों से विदेशी आक्रमण हुए तो भारत के राजे–राजवाड़े और राजपूत वीरों ने उनका मुकाबला किया । पर आपसी फूट, स्वार्थ और ईर्ष्याभाव के कारण वे लड़ाइयाँ हार जाते थे । पर युद्ध में उनकी वीरता उच्चकोटि की होती थी । वे पीछे हटने या पलायन करने की अपेक्षा सम्मुख रण में प्राण दे देते थे । इसे वे वीरगति कहते थे । वीर स्वर्ग में जाता है ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था ।

रीतिकाल में राष्ट्राभिमानी योद्धाओं की संख्या कम हो रही थी । पृथ्वीराज, राणासांगा जैसे वीर कुचक्र और ईर्ष्या के घेरे में अपना शौर्य दिखानेवाले थे । अब तो महाराणा प्रताप, शिवाजी और छत्रसाल जैसे गिनेचुने वीर पुरुष रह गए थे । प्रताप की वीरगाथाओं का तथा अन्य हिन्दू नरेशों की कीर्ति का वर्णन करनेवाले ग्रंथ नहीं मिलते, शायद विदेशी शासकों का आतंक इसका कारण है । पर भूषण आदि कवियों ने शिवाजी और छत्रसाल की वीरता का वर्णन किया । इन वीरों ने विदेशी धर्मांध शासकों के राष्ट्रविरोधी कारनामों के खिलाफ कई युद्ध किए थे । अपनी अस्मिता की सुरक्षा इनकी मूल प्रेरणा थी । इनकी प्रशस्तियाँ वीर रस की पुष्टि करती हैं ।

लेकिन रीतिकाल में कवियों ने अपने अनेक आश्रयदाताओं की प्रशस्तिमूलक कविताएँ लिखीं जो सत्य से बहुत दूर हैं । अनेक अतिशयोक्ति पूर्ण है । कायर को बड़ा वीर बताया गया है । ऐसे वर्णन हास्यास्पद भी लगते हैं ।

फिरभी कुछ अच्छी रचनाएँ मिलती है । केशवदास से ही वीर काव्य की परंपरा शुरू हुई है । उनके 'रतनबावनी' 'वीरसिंह देव चरित' और 'जहाँगीर जसचन्द्रिका' ऐसे ग्रंथ हैं । इनमें वीर प्रशस्ति की परंपरा का निर्वाह मात्र हुआ है । भूषण वीर कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं । इनके काव्य में नायक की वीरता, शौर्य और ओज–तेज का प्रवाह है, जो उसकी चारित्रिक गरिमा को उजागर करते हैं । मान कवि का 'राजविलास', लाल कवि का 'छत्र प्रकाश', सूदन का 'सुजानचरित', पद्माकर कृत 'हिम्मात बहादूर विरुदावली', 'प्रतापविरुदावली', जोधराज का 'हम्मीर रासो' चरित नायकों की वीरता के अच्छे उदाहरण हैं ।

रीतिकालीन वृत्तियों में आत्मश्लाधा और विलासिता मुखर होती थी, इसलिए सच्चे वीर काव्य कम मिलते हैं । कवि की अनुभूति के स्थानपर परंपरा निर्वाह अधिक है ।

3.5. रीतिग्रंथों का प्रवर्तक–केशवदास या चिंतामणि त्रिपाठी :

हिन्दी–रीति ग्रंथ की परंपरा कब से चली, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है । भक्त कवियों में सर्वप्रथम नन्ददास (सं 1600) ने 'रसमंजरी' में नायिकाभेद का निरूपण किया है, किंतु भानुदत्त (14 वीं शताब्दी) की संस्कृत में लिखी 'राजमंजरी' का यह पद्य में अनुवाद है । कुछ विद्वान कृपाराम की हिततरंगिणी (सं 1598) को नायिका भेद की प्रथमभाषा पुस्तक मानते हैं किंतु श्री चन्द्रवली पाण्डेय के अनुसार यह परवर्ती काल की रचना है । अंतर्साक्ष्य के आधार पर इसका रचनाकाल सं 1698 ठहरता है । काव्यांगों का सम्यक् विवेचन भाषा में सबसे पहले आचार्य केशवदास ने किया । डॉ० श्यामसुन्दर दास इनको हिन्दी–रीति –ग्रंथों का प्रवर्तक मानते हैं । इनकी 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' में क्रमश: अलंकार और रसों का विवेचन हुआ है । शुक्ल जी ने इससे पहले एक और लेखक 'करनेस बन्दीजन' ने तीन अलंकार ग्रंथों की चर्चा की है–कर्णाभरण, श्रुतिभरण और भूपभूषण । किन्तु इन ग्रांतों का कोई कता नहीं चलता । इसलिए ये ग्रंथ 'नोटिस' मात्र हैं । आचार्य शुक्ल जी के अनुसार, ''हिन्दी में रीति ग्रंथों की अविरल और अखण्डित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के 50 वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर केशव के आदर्श को लेकर नहीं ।'' आगे शुक्ल जी स्पष्ट करते हुए कहते

हैं–''हिन्दी रीति–ग्रंथों की अखण्ड परंपरा चितांमणि त्रिपाठी से चली अत: रीतिकाल का आरंभ उन्हीं से मानना चाहिए । इस प्रकार हिन्दी में रीति ग्रंथों के प्रवर्तक के संबंध में विद्वानों में मतभेद है । शुक्लजी ने केशवदास को रीति–ग्रंथों का प्रवर्तक मानने के विरुद्ध दो तर्क दिए हैं । पहला यह है कि केशव की 'कविप्रिया' के 50 वर्ष बाद तक हिन्दी में कोई लक्षणग्रंथ नहीं लिखा गया । दूसरा, बाद में भी जो रीति–ग्रंथों की परंपरा चली वह केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्यों (भामह,उद्‌भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली, जिसमें अलंकार–अलंकार्य्य का भेद हो गया था । हिन्दी के अलंकार ग्रंथ अधिकतर 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के अनुसार निर्मित हुए । कुछ ग्रंथों में 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का भी आधार पाया जाता है । काव्य के स्वरूप और अंगों के संबंध में हिन्दी के रीतिकवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रंथों का मत ग्रहण किया । उसके उपरान्त ही लक्षण ग्रंथों की भरमार सी होने लगी । कवियों ने कविता लिखने की यह प्रणाली बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना फिर उसके उदाहरण के रूप में कविता या सवैया लिखना ।

डॉ० श्यामसुन्दर दास का मत भी इस संबंध में विचारणीय है । वे केशव को रीतिकाल का आदि प्रवर्तक मानते हैं, ''यद्यपि समय–विभाग के अनुसार केशवदास भक्तिकाल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा रामचन्द्रिका आदि ग्रंथ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परंतु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिन्दी काव्य–धारा से पृथक् होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिन्दी में रीतिग्रंथों की परंपरा के आदि आचार्य कहलाए ।'' यह स्पष्ट है कि केशवदास अपने काव्य की मूल प्रेरणा संस्कृत के लक्षण ग्रंथों से लेते हैं । उन्होंने 'रामचन्द्रिका' की रचना की, फिरभी वे भक्तिकवि नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनके काव्य की मूल प्रेरणा भक्ति नहीं है । इसलिए वे निश्चित रूप से हिन्दी के सर्वप्रथम रीति ग्रंथकार ठहरते हैं । अब रीति–ग्रंथों का प्रवर्तन उन्होंने किया या नहीं यह विवादास्पद है । शुक्ल जी का पहला तर्क यह है कि प्रवर्तक आचार्य वही हो सकता है जिससे परवर्ती लोग प्रेरणा लेकर उसका अनुगमन करें । इस दृष्टि से केशवदास प्रवर्तक आचार्य नहीं ठहरते । किन्तु यह बात सर्वत्र ठीक नहीं है । ऐसा भी हो सकता है कि नवीन प्रवृत्ति का प्रवर्तन करनेवाले के कुछ समय बाद उस प्रवृत्ति की परंपरा चले । केशव ने निश्चय ही रीति–ग्रंथ लिखने की परिपाटी का आरंभ किया । शुक्ल जी का दूसरा तर्क यह है कि परवर्ती रीति ग्रंथकारों ने केशव के माने हुए संस्कृत के आचार्यों का अनुकरण नहीं किया । इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि केशव ने रीतिग्रंथ लिखने की परिपाटी आरंभ की । यह बात दूसरी है कि आगे के रीति–ग्रंथकारों ने जिन आचार्यों का आधार लिया, केशव ने उन्हें छोड़कर अन्य आचार्यों के मतों को अपनाया । जो भी हो, केशव ने हिन्दी में सर्वप्रथम रीति ग्रंथों का सृजन किया । अपनी अनुकरणीय विशेषताओं के कारण यदि चिंतामणि त्रिपाठी रीति –ग्रंथों के प्रवर्तक माने जाएँ तो भी केशवदास का महत्व कम नहीं हो जाता ।

3.6. रीतिकाल के प्रमुख आचार्य -कवियों का संक्षिप्त परिचय :

1. आचार्य केशवदास (जन्म संवत् 1612) ओरछा नरेश के भाई इन्द्रजीत सिंह के आश्रय में केशव की कविता का पल्लवन हुआ । ऐतिहासिक दृष्टि से केशव की स्थिति दो युगों की संधि पर है । उनके साहित्य में भक्ति साहित्य की धीमी अनुगुँज है और साथ ही रीतिकालीन, काव्य की प्रवृत्तियों का सशक्त उदय भी है । यों तो इनकी 'रामचन्द्रिका' रामकथा पर लिखा उत्कृष्ट प्रबंध–काव्य है , जिसमें इनकी भक्तिभावना प्रदर्शित हुई है, किन्तु मूलत: यह रीतिवादी कवि एवं आचार्य ही थे । इन्होंने सर्वप्रथम रीतिशास्त्र पर भाषा में पद्यवद्ध ग्रंथ की रचना की । यों तो शुक्ल जी ने कृपाराम का समय संवत् 1598 मानकर उन्हें केशव का पूर्ववर्ती माना है किन्तु श्री चन्द्रावली पाण्डेय के अनुसार इनका समय संवत् 1798 है और वे केशव के परवर्ती कवि हैं ।

केशव ने सर्वप्रथम 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' लिखकर अलंकार और रस का सर्वांगपूर्ण विवेचन भाषा में प्रस्तुत किया । अलंकार विवेचन में केशव ने भामह, उद्‌भट, दण्डी आदि प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों का अनुसरण किया । किन्तु आगे चलकर रीतिकाल के रीति–ग्रंथकारों ने केशव के आदर्श, इन संस्कृत के आचार्यों का अनुकरण न करके मम्मट और

विश्वनाथ का आदर्श माना । अपने इस रीतिशास्त्रीय विवेचन में केशव ने कोई मौलिक उद्‌भावना नहीं की । उन्होंने अलंकारों और रसों के विवेचन में लक्षणों का विवेचन ज्यों का त्यों संस्कृत के आचार्यों के आधार पर ही किया है । इन काव्यांगों के उदाहरण कहीं कहीं केशवदास ने बड़े सुन्दर दिए हैं । 'रसिक प्रिया' में नायिका–भेद का वर्णन भी अच्छा हुआ है । इस ग्रंथ की आलोचना करते हुए मिश्रबन्धु लिखते हैं–''इसमें केशवदास ने कविता के कुछ अंगों का वर्णन न करके केवल भाव–भेद और रसभेद का किया है और वह भी विस्तारपूर्वक नहीं । इसमें जहाँ तक हो सका है, श्रृंगार रस का ही अवलम्ब लिया गया है । आकार में यह पद्माकर कृत 'जगद्‌विनोद' के बराबर होगा । उत्तमता में मतिराम कृत 'रसराज' से मिलता–जुलता है, परंतु उसके बराबर नहीं पहुँचता ।'' 'कविप्रिया' में सत्रह अध्यायों में कविता के दोष, कवियों के गुण दोष, कविता की जाँच, अलंकार बारहमासा, नशशिख और चित्र काव्य वर्णित हैं । 'वीरसिंहदेव' और 'जहाँगीर–जस चन्द्रिका' केशव के प्रशस्तिमूलक चरित काव्य हैं । जिनमें कथासूत्र प्रतीकात्मक और धर्ममय है । 'रामचन्द्रिका' की रचना की प्रेरणा केशव को तुलसी से मिली, ऐसा बहिसाक्ष्य है, किन्तु अन्त:साक्ष्य के अनुसार आदिकवि वाल्मीकि ने स्वप्न में आकर इसकी रचना की प्रेरणा दी । केशव लोकेषणा की तृप्ति के लिए 'प्राकृत–जन–गुनगान' करते रहे किन्तु जब शांति न हुई तो उच्चतर उद्देश्य से 'रामचन्द्रिका' में अपनी समस्त शक्ति और प्रतिभा राम को निवेदित की । इन्हें संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' तथा प्रसन्न राघव से विशेष प्रेरणा मिली । केशव ने 'रामचन्द्रिका' में कुछ नवीन छन्दों का आविष्कार और प्रयोग किया है ।

2. आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी –इनका जन्म सन् ईस्वी की सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में ही हुआ था । इनके ग्रंथ हैं छन्द–विचार, काव्य–विवेक, काव्य–प्रकाश, रामायण रसमंजरी और कविकुल कल्पतरु । इनमें 'कविकुल कल्पतरु' ही प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण ग्रंथ है । यह 'काव्यप्रकाश' के आदर्श पर लिखी गई है । इनमें बड़े सुन्दर उदाहरण हैं । इन उदाहरणों में उनके भावुक कवि हृदय की झलक मिलती है । इससे उनके अच्छे कवि होने का सबूत मिलता है । इनके ग्रंथ 'कविकुल कल्पतरु' में काव्य के सब अंगों का पूरा निरूपण मिलता है । छन्द–विचार में भी पिंगल शास्त्र का सुंदर निरूपण है । इनके पीछे हिन्दी में लक्षण ग्रंथों की एक अखण्ड परंपरा चली ।

3. आचार्य मतिराम–इनका जन्म संवत् 1674 माना गया है । रीतिग्रंथकारों में इनका महत्वपूर्ण स्थान है । इन्होंने अलंकार शास्त्र पर 'ललित ललाम' नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की है । इनके छन्दसार में पिंगल शास्त्र का सुंतर विवेचन है । 'रसराज' इनका रस संबंधी ग्रंथ है । 'रसराज' और 'ललित ललाम' में रस और अलंकार की शिक्षा का सुंदर परिपाक है । शुक्ल जी ने इन दोनों ग्रंथों का रीति–ग्रंथों में विशेष महत्व निरूपित किया है । उनके शब्दों में अपने विषय के ये अनुपम ग्रंथ हैं । उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारों का अभ्यास होता चलता है । मतिराम की सरस एवं स्वाभाविक रचना का इन ग्रंथों में परिचय मिलता है । इनकी जैसी भाषा और सरस व्यंजना पद्माकर को छोड़कर रीतिकाल के अन्य कवियों में नहीं मिलता ।

4. आचार्य भूषण –इनका जन्म संवत् 1670 में माना जाता है । वीररस के प्रसिद्ध कवि भूषण ने भी रीति–ग्रंथों की रचना करके रीति–ग्रंथ–परंपरा में स्थान बना लिया है । इनका 'शिवराज–भूषण' अलंकार शास्त्र का ग्रंथ है । यह ग्रंथ रीति–ग्रंथ की दृष्टि से तथा अलंकार निरूपण के विचार से उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता । लक्षणों की भाषा भी स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कई स्थलों पर ठीक नहीं है । इनके दो प्रसिद्ध काव्य–ग्रंथ 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दशक' है ।

5. आचार्य महाराजा जसवन्त सिंह–इनका जन्म संवत् 1686 को हुआ था । मारवाड़ के महाराजा जसवन्तसिंह हिन्दी साहित्य के प्रधान आचार्यों में माने जाते हैं । इनका जयदेव के 'चन्द्रलोक' के आधार पर रचा हुआ 'भाषा भूषण' ग्रंथ अलंकारों का बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है । इसमें उनकी कवित्व शक्ति का विशेष परिचय नहीं मिलता क्योंकि उन्होंने इसकी रचना प्रतिपादन की दृष्टि से की है, कविता करने के उद्देश्य से नहीं । इस ग्रंथ में एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण रखे गए है । इसलिए यह ग्रंथ जिज्ञासु हिन्दी कवियों के पठन–पाठन का सर्वप्रिय ग्रंथ हुआ । इसके अतिरिक्त इन्होंने कुछ तत्व–ज्ञान संबंधी ग्रंथ भी लिखे हैं । आगे चलकर 'भाषा–भूषण' की तीन टीकाएँ रची गईं, इससे ग्रंथ की लोकप्रियता सिद्ध होती है ।

6. आचार्य भिखारी दास–जसवन्तसिंह की भाँति आचार्य भिखारीदास भी अपने आचार्यत्व के लिए प्रसिद्ध हैं । इनके ग्रंथों में काव्यनिर्णय सबसे उत्कृष्ट है । शुक्ल जी के शब्दों में दास जी का महत्व रीति–ग्रंथकारों में इस प्रकार है–''काव्यांगों के निरूपण में दास जी को सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है क्योंकि इन्होंने छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द–शक्ति आदि सभी विषयों का औरों से विस्तृत प्रतिपादन किया है ।'' इनके मुख्य ग्रंथ है–रस, सारांश, छन्दोर्णव–पिंगल, काव्य–निर्णय, नाम–प्रकाश, विष्णु–पुराण भाषा, छन्द प्रकाश आदि । इनका यह प्रतिपादन केवल संस्कृत के आचार्यों की परंपरा का व्याख्यान नहीं है,वरन् इन्होंने अपनी स्वतंत्र व्याख्या भी प्रस्तुत की है ।

7. आचार्य महाकवि देव –इनका जन्म संवत् 1730 को हुआ । रीतिकाल के प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कवि देव का विचार–क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है । ये आचार्य और कवि दोनों रूप में महान हैं । इन्होंने रीतिसंबंधी कई ग्रंथ लिखे हैं और उनमें काव्यांगों का अच्छा निरूपण किया है । शुक्ल जी ने इनके प्राप्त 35 ग्रंथों की सूची दी है किन्तु रीति की दृष्टि से इनके दो ग्रंथ ही प्रसिद्ध हैं–'भावविलास' और 'काव्यरसायन' या 'शब्द रसायन' । सभी रसों का सर्वांगपूर्ण विवेचन 'शब्दरसायन' में प्राप्त होता है । 'भावविलास' में रस के अतिरिक्त अंगों एवं रस–परिपाक का सम्यक् विवेचन है परंतु प्रधानता केवल श्रृंगार रस को ही दिया गया है । इसमें थोड़–सा अलंकार निरूपण भी मिल जाता है । 'शब्दरसायन' में अलंकारों का विस्तार से निरूपण मिलता है । 'शब्द–रसायन' में शब्द, शक्ति, गुण–रीति और पिगंल का भी क्रमिक विवेचन है । इसके अतिरिक्त काव्य की आत्मा, काव्य शरीर, काव्य–प्रयोजन और उसकी महिमा आदि के विषय में भी इन्होंने स्थान–स्थान पर सामान्य सिद्धांत दिए हैं । रस के संबंध में इनकी अलग स्थापना है । अलंकारों का विवेचन दण्डी के अनुसार हुआ है । छन्द के उदाहरण और लक्षण एक ही छन्द में प्रस्तुत करना इनकी विशेषता है ।

8. मण्डन : (सं० 1716)–इनकी 'रस रत्नावली' तथा 'रस विलास' ग्रंथों में रस निरूपण है । इनकी कविता फुटकार पदों के रूप में ही प्राप्त है । इन ग्रंथों का कोई पता नहीं चलता ।

9. कुलपति मिश्र : (कविताकाल 1770-83)–इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'रस रहस्य' ,मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का छायानुवाद है । इसमें इन्होंने रस–निरूपण में गद्य–पद्य दोनों का व्यवहार किया है । इसमें इन्होंने रस–निरूपण में गद्य–पद्य दोनों का व्यवहार किया है । इनके अन्य ग्रंथ इस प्रकार है–द्रोणपर्व, युक्ति तरंगिणी, नख सिख, संग्रामसार ।

10. कालिदास त्रिवेदी–इन्होंने 'वर–वधू–विनोद' नाम से नखशिख और नायिकाभेद की पुस्तक लिखी ।

11. सुखदेव मिश्र–इनके रीति–ग्रंथों में 'वृत्तविचार', 'छंद विचार' रसार्णव, 'श्रृंगारलता' प्रसिद्ध हैं । 'रसार्णव' में श्रृंगार के सुन्दर उदाहरण हैं ।

अन्य रीतिकालीन आचार्यों में श्रीधर, सूरतिमिश्र, कविन्द्र उदयनाथ, श्रीपति, कृपाराम, दलपतिराय और वन्शीधर, 'रस पीयूषनिधि' की रचयिता सोमनाथ रघुनाथ, 'कविकुल कण्ठाभरण' के रचयिता दूलह, मनीराम मिश्र, बेनी बन्दीजन, बेनी–प्रवीन और पद्माकर, ग्वाला प्रतापशाहि आदि प्रसिद्ध रीति–ग्रंथकार हैं । कृपाराम की 'हिततरंगिणी' प्रसिद्ध है ।

3.7. निष्कर्ष :

रीतिकालीन काव्य सामाजिक परिस्थितियों की देन है । उसका विकास सामंती या दरबारी संस्कृति के बीच हुआ । इसकाल में श्रृंगारिक रचनाओं के साथ श्रृंगारेतर साहित्य की भी रचना हो रही थी । वीरता, धर्म, नीति और वैराग्य पर भी कविता रची जा रही थी, जो इस युग की एक महत्वपूर्ण विशेषता है ।

अभ्यास प्रश्न

1. रीतिकाल के नामकरण और पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।
2. रीतिकाल के आधार का उल्लेख कीजिए ।
3. रीतिकाल के विरकाव्य पर प्रकाश डालिए ।
4. रीतिकालीन श्रृंगारिक रचनाओं का परिचय दीजिए ।
5. रीतिबद्ध काव्यधारा का परिचय दीजिए ।
6. रीतिबद्ध काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ बताइए।
7. रीतिसिद्ध काव्यधारा का परिचय दीजिए ।
8. रीतिसिद्ध काव्यधारा के प्रमुख रचनाकार का परिचय देते हुए, इस साहित्य की विशेषताएँ बताइए।
9. रीतिमुक्त काव्यधारा का परिचय दीजिए ।
10. रीतिमुक्त काव्यधारा की विशेषताएँ बताइए।

संदर्भ ग्रंथसूची

- हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.
- हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-2015.
- हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2006.
- हिंदी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेंद्र, मयूर पेपरबैक्स, नोएड़ा-2004.
- हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005.

****